TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178506
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83·1 V 13A   Accession No. H 3030

Author - - - - वाजपेयी, भगवतीप्रसाद

Title आदान-प्रदान. 1958.

This book should be returned on or before the date last marked below.

आदान-प्रदान

[व्यक्ति और समाज के जागरण की कहानियाँ]

●

भगवती प्रसाद वाजपेयी

किताब महल, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १६५८

प्रकाशक--किताब महल ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद ।
मुद्रक—निषाद प्रेस, १४८ बी०, कीटगंज इलाहाबाद ।

अनुक्रम

अध्याय		पृष्ठ
१.	ज्वार-भाटा	१
२.	अन्तिम भेंट	५१
३.	दर्पण	२६
४.	विस्फोट	३५
५.	दो बहनें	५३
६.	स्वर्ग सुख	६५
७.	अशोक का पेड़	८३
८.	राजपथ	१०१
९.	कुलटा	११६
१०.	उसका हृदय	११९
११.	बधाई	१२९

ज्वार-भाटा

बात ऐसी अधिक पुरानी नहीं है। दो वर्ष से कम ही की बात है। आज तो स्थिति बदल गयी है। जनार्दन ने अपनी एक जीवन-संगिनी बना ली है, किन्तु उस समय स्थिति दूसरी थी। पूर्णिमा अपनी बहिन शारदा के विवाह से लौट रही थी। साथ में उसका पति विनोद था और गोद में थी दो वर्ष की शशि। गाँव से वह बैलगाड़ी पर आकर कानपुर सेन्ट्रल स्टेशन पर गाड़ी के एक डब्बे में बैठी हुई थी। विनोद टिकट लेने गया हुआ था। अतः कुछ मिनटों के लिए उसे अपने डब्बे मे अकेला रहना पड़ा था। यों प्लेटफार्म पर और उसके पास के डब्बों में काफी भीड़ थी। उसी समय मालूम नहीं कहाँ से आ गया जनार्दन। दुर्बल शरीर, गौर-वर्ण, सिर पर बहुत साफ गांधी टोपी। बदन पर रेशमी खद्दर का कुरता और खद्दर की बारीक धोती और पैरों में मुलायम चप्पल। उसका ध्यान दूसरी ओर था। वह कुछ सैनिकों को देख रही थी जो बर्मा से लौटे थे, और जिनके अंग भंग थे। एकाएक पैरों में उसे किसी के मुलायम स्पर्श का भान हुआ। मुड़कर जो देखा, तो अवाक् हो उठी। एकदम से जैसे सकपका गयी। क्षण भर तक तो कुछ भी नहीं कह सकी। किन्तु वह तो जनार्दन था न, चुप कैसे रहती। बोली—"ओह, तुम हो जनार्दन भैया। लेकिन यहाँ कैसे?"

जनार्दन ने उसके इस प्रश्न का उत्तर न देकर पूछा—"शुक्लजी कहाँ गये?"

उसने कहा—"टिकट लेने गये हैं, अभी-अभी।"

कुछ सिर नीचा कर वह बोला—"इधर अक्सर यों ही चला आता हूँ। सोचा, शारदा के ब्याह में तुम आयी जरूर होगी और यहाँ एक

ट्रेन है, जिससे तुमको इधर जाना होता है। लगातार इसी समय आते आज पाँचवाँ दिन है।"

क्षण भर तक पूर्णिमा चुप रही। जी में आया, स्पष्ट रूप से कह दे—मैंने तुमसे कितनी बार प्रार्थना की कि अब मुझे भूल जाओ। समझ लो कि पूनो मर गयी। किन्तु वह कुछ कह न सकी। वह सोचने लगी, उसे इस समय क्या-क्या पूछना चाहिये।

तब तक साहस करके जनार्दन बोला—"आज कितने दिनों के बाद तुम्हें देखने का अवसर मिला है। यूँ चाहता तो मैं भी इस निमन्त्रण में सम्मिलित हो सकता था। वर-पक्ष के लोगों से भी मेरी कम घनिष्ठता नहीं है। निमन्त्रण भी मिला था। पर मैंने सोचा, तुम्हें कष्ट होगा।"

उदास हो पूर्णिमा बोली—"अच्छा किया जो नहीं आये। यहाँ भी······।"

कहते-कहते रूमाल से अपना मुँह ढँक लिया। सामने पानवाला देख पड़ा उससे चार बीड़े पान लेकर पूनो के आगे करता हुआ जनार्दन बोला—"क्या करूँ पूनो। क्या मैं इतना भी नहीं समझता कि तुमसे मिलना-जुलना अब तुम्हारे लिए कितना भयावह है ? किन्तु जी नहीं मानता। लाख बार जी को समझाता हूँ। किन्तु मुझे इस बात पर विश्वास ही नहीं होता कि तुम दूसरे की हो गई हो। कितनी बार इस बात पर हम लोगों की बातें हुई थीं। सदा ही तुमने यही विश्वास दिलाया था कि हम कभी अलग हो नहीं सकते।"

भीड़ छँट गई थी। प्लेटफार्म पर पान-बीड़ी, फल-मिठाई और दूध-चाय आदि के सेवक-विक्रेता लोग ही अपनी-अपनी आवाज लगाते और सौदा बेचते देख पड़ते थे। रेल के यात्री डब्बे से उतरकर इधर-उधर किसी वस्तु को चटपट खरीदकर अपनी जगह पर लौट आने में व्यस्त थे। तब तक पूर्णिमा किसी प्रकार, प्रकृतिस्थ होकर बोली—"जनार्दन भैया, तुम विवाह क्यों नहीं कर लेते ? इस तरह कितने दिन जीवन चलेगा ?"

इसी क्षण विनोद आ गया।

सामने आते ही जनार्दन ने उन्हें नमस्कार किया। बोला—"मैं यहाँ एक मित्र को भेजने आया था। लौट ही रहा था कि देखा, पूनो है। अच्छा हुआ आपके भी दर्शन हो गये। ब्याह में ही भेंट हुई थी। आपको भला क्या स्मरण होगा ?

मुस्कुराते हुए विनोद ने कहा—"स्मरण क्यों नहीं है। उस समय शायद आप बी० ए० प्रीवियस में पढ़ रहे थे। नाम भी आपका मुझे याद है। जनार्दन है न ?"

जनार्दन आश्चर्य से चकित हो उठा। उसके मुँह से एकाएक निकल गया—"अच्छा, आपको मेरा स्मरण खूब रहा।"

इसी क्षण गाड़ी ने सीटी दी और तभी तत्काल जनार्दन ने पाँच रुपये का एक नोट शशि को देकर उसे चुमकारते हुए प्यार किया और पूर्णिमा के चरणों की धूल मस्तक से लगा ली। पूर्णिमा एकाएक विस्मय, आनन्द और एक प्रकार के अकल्पित सम्भ्रम से चौंक पड़ी। बोली—"यह न होगा जनार्दन भैया। नोट लौटा दे शशि, मम्मा को।"

शशि ने एक बार जनार्दन की ओर देखा, एक बार माँ को। विनोद चुप था। पूर्णिमा उस नोट को शशि के हाथ से लेकर उसे वापस देने लगी।

जनार्दन भूल गया वह क्या कह रहा है। वह यह भी भूल गया, वह कहाँ खड़ा है। उसे यह भी ख्याल न रहा कि पूनो अकेली नहीं है, उसका पति पास बैठा है। चरण-स्पर्श करते क्षण जब वह तुरन्त चल देने को तत्पर हुआ तो भावावेश में उसकी आँखें भर आयीं। किन्तु जब पूर्णिमा शशि के हाथ से नोट छीन कर उसे वापस करने लगी, तब वह अपने भावों को रोक न सका। उसने कह दिया—"मैं···मैं किसी योग्य नहीं हूँ पूनो। मेरी कोई सामर्थ्य नहीं है। किन्तु, तुम्हीं सोच देखो, क्या मैं इस तुच्छ भेंट के लिए भी महँगा हूँ ? क्या मैं इतनी दूर जा पहुँचा हूँ कि शशि को······?"

बात अधूरी रह गयी और ट्रेन चल दी। जनार्दन ने एक बार फिर पूर्णिमा का चरण-स्पर्श किया। एक बार फिर शशि की चुम्मी ली, एक बार फिर उसने विनोद को नमस्कार किया और वह प्लेटफार्म पर आ गया।

अब ट्रेन मोशन पर थी। क्षण भर बाद उसका डब्बा प्लेटफार्म के छोर को भी पार करने लगा। पूर्णिमा ने खिड़की से जो सिर निकाल कर देखा तो उसी ओर देखता हुआ जनार्दन अपना रूमाल हाथ से उठाये हिला रहा है।

ट्रेन कानपुर सेन्ट्रल स्टेशन से आगे बढ़ गयी। विनोद कुछ क्षणों तक मौन रहा। उसने लक्ष्य किया, पूर्णिमा कुछ उदास है। टिकट लेने के लिए जब वह तीसरे दर्जे के टिकटघर की ओर जाने लगा था, तब तो वह ऐसी उदास न थी। जनार्दन के आ जाने से ही वह कुछ आत्मगत हो गई है। जनार्दन कौन है, और उसका पूर्णिमा के साथ क्या सम्बन्ध है, विनोद इतना जानता है। किन्तु वह कोई ऐसा सम्बन्ध है जो पूर्णिमा की जीवन-धारा में एक विक्षेप उपस्थित कर सकता है, यह वह नहीं जानता। तभी वह सोचने लगता है, यह बात क्या है कि पूर्णिमा कुछ बोल नहीं रही है।

अबोध शशि एक अजनबी के आने से कुछ उलझन में पड़ गयी थी। अब वह फिर खेलने लगी। वह क्या जाने कि जो आदमी अभी कुछ देर पहले उसे कागज का टुकड़ा दे गया है, वह आया क्यों, और कागज का यह टुकड़ा क्यों दे गया। यह सब भी उसके सोचने का विषय नहीं है। उसकी मौसी ने रबर का एक कुत्ता उसे दिया था, वह उसी के कान पकड़कर नोच रही है। कभी उसे मुँह में ले जाकर दाँत से काटती है और कभी उसके कानों को दोनों हाथों से खींचती है।

पूर्णिमा ने उसकी यह हरकत जो देखी, तो बोली—"इस तरह तो यह आज ही खतम हो जायगा, शशि इसको नोचा नहीं जाता। यह खिलौना है।"

शशि ने जरा-सा हँसते और आगे के दोनों दाँतों को झलकाते हुए कहा—"इनौना ?"

विनोद ने झट उसे पूर्णिमा के पास से उठा लिया, गोद में भरकर उसकी चुम्मी ली और उसके प्रश्न को दोहरा कर उसी तरह पूछा—"इनौना ?" किन्तु इसी क्षण उसने पूर्णिमा की मुद्रा में थोड़ा-सा परिवर्तन लक्ष्य किया। देखा, वह प्रकृतिस्थ हो गयी है। तब उसे चुहल सूझ पड़ी। शशि से उसने पूछा—"अभी थोड़ी देर पहले कौन आया था शशि ?"

शशि पूर्णिमा की ओर देखने लगी।

विनोद ने फिर पूछा—"जो तुझे नोट दे गया था वह कौन था, बता तो।"

शशि फिर पूर्णिमा की ओर ताक कर रह गयी। किन्तु वह इस बार स्वतः चुप न रह सकी। बोली—"वह क्या जाने, उसे क्या मालूम ? पागल की-सी बातें करते हो।"

विनोद ने पूर्णिमा की बात पर ध्यान नहीं दिया। आप ही वह उसे गुदगुदाकर हँसाता और मुँह के पास मुँह ले जाकर कहता रहा—"वह मम्मा था तेरा, मम्मा। मम्मा था, मम्मा।"

कथन में ममता की पुट देकर पूर्णिमा बोली—"ज्यादा न हँसाओ। लाओ मुझे दो, पेट में पानी हो जायगा।"

विनोद ने कुलकुलाना तो बन्द कर दिया, किन्तु फिर उसके बाँयें गाल को छेड़-छेड़ कर अँगुली से हिला-हिला कर पूछना शुरू किया—"कौन था, शशि बताना तो ? हाँ, बताना तो।"

अबकी बार शशि ने हिम्मत की। बोली—"मम् !"

फिर क्या था पूर्णिमा का रोम-रोम जैसे खिल उठा। विनोद भी प्रसन्नता से कम पुलकित न हुआ। बोला—"शाबाश !"

कृत्रिम गम्भीर होकर पूर्णिमा बोली—"लाओ तो इधर। इसी तरह इसको नजर लग जाती है। तुमको क्या, परेशानी तो मुझे होती है।" और उसने विनोद की गोद से उसे ले लिया।

शशि को पूर्णिमा की गोद में देते हुए विनोद कहने लगा—"नजर-वजर कुछ नहीं, कोई चीज नहीं। तुम लोगों की एक व्यर्थ की भावना-मात्र है।"

गोद में आते ही शशि माँ के वक्ष में हाथ लगा जो कुछ टटोलने लगी, पूर्णिमा ने उसे साड़ी के भीतर उसे सुलभ कर दिया।

विनोद कुछ उस प्रकार का व्यक्ति है, जो शंकाओं को हृदय में पलने नहीं देता। उनका अङ्कुर देखते ही उन्हें मसल डालता है। आचार-व्यवहार में स्पष्टता उसे अधिक प्रिय है। बल्कि एक तरह से यह स्पष्टता उसके स्वभाव में परिणत हो गयी है। अभी थोड़ी देर पहले न केवल जनार्दन की उपस्थिति में वरन् उसके बाद भी उसने अनुभव किया था कि पूर्णिमा कुछ अन्यमनस्क हो गयी है। तभी जनार्दन और उसके सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट रूप से जानने के लिए वह आतुर हो उठा। उसने पूछा—"यह जनार्दन यहाँ क्या करता है?"

शंकित पूर्णिमा ने सम्हलते हुए उत्तर दिया—"देश का कार्य करते हैं शायद। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के मन्त्री भी हैं। और कई बार जेल हो आये हैं।"

विनोद की प्रश्नावली का अभी प्रारम्भ ही हुआ था, उसने पूछा—

"घर से निश्चिन्त हैं? जीविका के लिए कुछ करने की जरूरत नहीं है?"

"जरूरत क्यों नहीं है? जरूरत तो बहुत है। छोटी बहिन का ब्याह अभी नहीं हुआ है। घर में खेती-बारी तो होती है, किन्तु उससे इतनी अधिक आमदनी तो है नहीं कि इन्हें किसी काम में लगने की जरूरत न हो। मामा जी ने किसी तरह बी० ए० पास करा पाया है। सोचते थे कि लड़का पढ़-लिख कर उन्हें कुछ अधिक सुख देगा। परन्तु इनके देश के काम में लग जाने से उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया है।"

"किन्तु सुनता हूँ कि तुम्हारे मामा के तो कोई सन्तान है नहीं।"

"पर यह मामी की बड़ी बहिन के पुत्र हैं। इनका अधिक रहना भी मामी जी के ही यहाँ हुआ है। पढ़ाई में उन्होंने सहायता भी कम नहीं दी है।"

"ब्याह शायद अभी नहीं हुआ है?"

"कहते हैं ब्याह करके स्त्री को फाँसी पर चढ़ाना मुझे स्वीकार नहीं। अच्छे से अच्छे ब्याह लगे, मामा जी ने भी काफी जोर दिया पर ये अपनी तबियत और विचार के इतने दृढ़ हैं कि टस से मस नहीं होते।"

"तुम क्यों नहीं समझातीं?"

पूर्णिमा जब अपनी प्राकृतिक अवस्था में रहती है, उसका मुख खिले गुलाब-सा शोभन लगता है। नारी की देह पर जब यौवन का प्रथम ज्वार आता है, तब वह सम्हाले नहीं सम्हलता। अंग-अंग जैसे गदराये आम-सा सुवासित और स्निग्ध होकर उद्दीप्त हो उठता है। पूर्णिमा भी आज इसी स्थिति में है। इसीलिए विनोद उसकी रूप-माधुरी की ओर निरन्तर एक मोहक दृष्टि से देखा करता है। उसके क्षण-क्षण के भाव-विपर्यय को वह अपलक अपनी चेतना में भर लेना चाहता है, और इसी-लिए जब उसने उपयुक्त प्रश्न किया और उसके फलस्वरूप पूर्णिमा का मुख गम्भीर हो उठा, तो उसे आश्चर्य हुआ।

पूर्णिमा की स्थिति दूसरी है। जनार्दन उसके साथ खेला है। सखा के साथ जो एक प्रकार का निष्कपट भाव रहता है, प्रारम्भ में बिल्कुल वैसा ही निर्मल भाव वह उसके प्रति रखती थी। किन्तु अन्त में ऐसे दिन भी आये, जब दोनों ने अनुभव किया कि वे परस्पर एक ऐसे सम्बन्ध में गुँथे हुए हैं, जो टूट नहीं सकता, मिट नहीं सकता। जो पहले हास-परिहास में अपने मिलन के दिन व्यतीत करते थे, वे दो हृदय अब एक-दूसरे से मिलने में भयातुर होने लगे। कोई रोया, किसी ने उपवास किया। अन्त में वे मिले और मिले एकान्त में। उन्होंने खुल कर अपना-अपना प्रश्न रखा। वे झगड़े और रोये भी। एक ने दूसरे को सांत्वना

दी। उन्होंने ठण्डी साँस ले-लेकर क्षणिक भावावेग से दूर जाकर स्थिर हो-होकर सोचा और एक प्रशस्त मार्ग निकालने की चेष्टा की।

रामायण की जिल्द हाथ में लेकर पूर्णिमा बोली थी—"अगर अम्मा राजी न होंगी, तो मैं उनसे स्पष्ट शब्दों में कह दूँगी कि तब फिर मेरा मरण निश्चित है।"

और जनार्दन ने गीता को मस्तक से लगाकर प्रतिज्ञा की थी, "तुम अगर अपने व्रत से डिग भी जाओगी तो भी मैं आजन्म अविवाहित रहकर मरण-पर्यन्त तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहूँगा।"

और इन प्रतिज्ञाओं के बाद हुआ यह कि माँ ने कहा—"ऐसा हो नहीं सकता, बेटी। हाथ की ये जो लकीरें हैं, मैं इन्हें मेट नहीं सकती। हमारे घर और वंश की जो मान-मर्यादा है, उसके विरुद्ध ऐसा हो ही कैसे सकता है? जनार्दन कुलीनता में हम से छोटा है। फिर भैया ने उसे पुत्र की भाँति मानकर पढ़ाया-लिखाया है। हमारा सारा समाज उसे तुम्हारे भाई के रूप में देखता है। मैं उस समाज की आँखों में धूल कैसे डाल सकती हूँ। तूने मरण की बात कही है। वह मरण तेरा अकेला न होकर मेरा भी हो सकता है। किन्तु यह समाज किसी एक व्यक्ति के मरण की हानि को इतना भी तो नहीं गिनता, जितना चींटी के मरण को। व्यक्ति की हानि समाज की हानि नहीं है—बेटी। समाज उससे बहुत ऊपर है। इसके सिवा ऐसा मरण कोई बहुत बड़े महत्व की वस्तु हो, सो बात भी नहीं है। नित्य ही सुनती हूँ, अमुक ने रेल से कट कर जान दे दी। अमुक ने अफीम खा ली, अथवा अमुक फाँसी लगाकर मर गया। पर इसके बाद फिर सब कुछ एक व्यापक शून्य में समा जाता है। लोग कहते हैं—"बड़ी नादानी की। कायर निकला। जीवन से लड़ाई लड़ नहीं सका। विषमता की आफतों को छाती पर न लेकर रण से भाग खड़ा हुआ।" यही तुमने सोच रक्खा हो तो तुम जो चाहो करने में स्वतन्त्र हो। हो सकता है कि मेरी ये बातें तुम्हें विष से बुझे बाणों-सी मर्माहत करती हों। किन्तु ये सत्य के निकट कितनी हैं, एक दिन जब

तुम अनुभव करोगी, तभी जानोगी कि माँ ने अत्यन्त कड़वी दवा मिला कर मेरे मानसिक रोग को कैसी सावधानी के साथ दूर कर दिया था। तब आज की अपनी इस हठ पर तुम्हें हँसी आयेगी। तुम अपनी इस स्थिति पर आप ही लज्जा के भार से अपना यह उन्नत सिर झुका दोगी। अपनी इस समय की नादानी पर तुम पछताओगी, और आज की मेरी इस आदेशात्मक कटुता को जीवन का अमर अक्षय वरदान मानकर सुख, सन्तोष और प्रसन्नता से सिहर उठोगी।"

पूर्णिमा आज वास्तव में माँ के इस कथन को अपने जीवन में अक्षरशः चरितार्थ होता देख रही है। जनार्दन के साथ उसके बाल्य-जीवन का ही विशेष सम्बन्ध रहा है। जीवन के अत्यन्त कटु और तिक्त व्यवहारों से भरी इस निर्मम दुनिया में उसने विनोद के द्वारा कहीं भी कोई कष्ट नहीं पाया। एक क्षण को भी उसे यह अनुभव करने का अवसर नहीं मिला कि उसके जीवन में कहीं कोई अभाव भी है। दिन पर दिन उसका यह विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ ही होता गया है कि अपरिपक्व अवस्था के संकल्पों का जीवन में कोई विशेष महत्व नहीं और इस-लिए वह जनार्दन को एक तरह से भूल-सी गयी है। इसीलिये उसने अपने आचार-व्यवहार और भावों से यह कभी प्रकट नहीं होने दिया कि जना-र्दन भी कोई एक था, जिसे उसने अपना समझा था, अथवा जो अब भी उसका वैसा ही अपना बना हुआ है।

किन्तु अपरिचित, अप्रत्याशित और अकस्मात आकर उसी जनार्दन ने, कुछ ही क्षणों में, उसके रत्नाकर से भरे पूर्ण जीवन को अपने एक ही स्पर्श से इस तरह जो प्रकम्पित कर डाला है, यह क्या है? पूर्णिमा की विचार-दृष्टि एक मात्र इसी प्रश्न के समाधान में लीन है। बार-बार वह सोचती, मैंने तो केवल कहा ही भर था कि अगर तुम मुझे न मिले तो मेरा मरण निश्चित है। पर मैं इसे निभा नहीं सकी। विपरीत इसके मैं यही सोचती हूँ कि मेरा उस अवस्था का वह सब सोचना एक भाव-प्रवणता मात्र थी—अपरिपक्व बुद्धि और चेतना का केवल एक भावा-

त्मक प्रमाद। वह सोचती है, यही मेरे लिए आज एक महासत्य है और अट्ठाइस वर्ष के तरुण तपस्वी का यह अविवाहित जीवन, देश-सेवा के युग-युग बन्दनीय महायज्ञ में उसका तिल-तिलकर जल-जलकर यह आहुति-दान ही असत्य और मिथ्या है।

उन्होंने कहा था, "तुम चाहे अपने व्रत से विचलित भी हो जाओ, पर मैं तो मरण-पर्यन्त तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा ही। सो मेरा विचलित होना मेरी बहुत बड़ी सफलता है, और जनार्दन का यह अविचलित तपःपूर्ण जीवन ही उसकी असफलता। तो वह प्रतिज्ञा, जो पूरी नहीं हो सकी, अपनी अपूर्णता पर गौरव माने, और वह संकल्प जिसने अपने को आचार का रूप देकर अग्नि-परीक्षा में स्वर्ण की भाँति जाज्वल्यमान कर दिया हो, मिथ्या, तुच्छ और हेय मानकर दूध में पड़ी मक्खी की भाँति तिरस्कार का भाजन बने !

जिस समय विचारों के इस संघर्ष में पूर्णिमा स्वयमेव इतनी विकल थी, उसी समय उसके सामने विनोद का यह प्रश्न होता है कि विवाह के लिए तुम जनार्दन को समझाती क्यों नहीं ?

यहाँ पूर्णिमा के दाम्पत्य जीवन की भाव-धारा के अब तक के इतिहास को भी भुलाया नहीं जा सकता। अब तक उसने अपने इस स्वामी से जनार्दन और अपने सम्बन्ध की जो कभी चर्चा नहीं की, उसका यह कारण नहीं है कि वह अपने इस अतीत को उससे गुप्त रखना चाहती है। कारण अगर कोई हो सकता है, तो वह केवल यह कि अब तक उसे इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। यह भी हो सकता है कि उसने इसे अवांछनीय समझा हो। व्यर्थ में स्वामी के मन को उद्विग्न करना क्या कोई अच्छी बात है ? विशेषकर उस स्वामी को, जो अपना सर्वस्व उस पर न्यौछावर करता आ रहा हो। किन्तु अब आज वह क्या करे ? क्या आज भी इसी उद्देश्य को कल्याणकारी मानकर वह इस भेद पर परदा डाल दे ? यद्यपि चाहे तो डाल सकती है। साफ कह सकती है कि तुम्हारे आने से पूर्व यही चर्चा तो मैं उससे कर ही रही थी।

किन्तु उसने सत्य के इस स्थूल रूप के मोह से अपने आपको मुक्त ही रखना अधिक न्यायसंगत समझा। परिणाम की बात सोचे बिना अपने इस जीवन-साफल्य के समस्त गौरव को एक ही दाँव में रखकर उसने कह दिया—"मैं उन्हें कैसे समझाऊँ? जबकि समझाने की स्थिति मेरी है ही नहीं। मैं तो उन्हीं के साथ अपने आपको वरण करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थी?"

फतेहपुर स्टेशन अभी दूर था और गाड़ी छोटे-छोटे स्टेशनों को बराबर पार करती चली जा रही थी। विनोद पूर्णिमा की बात सुनकर उसी तरह चौंक गया, जैसे आग की साधारण चिनगारी बदन में कहीं छू जाने से हमारी समस्त चेतना को अपने ऊपर केन्द्रित कर लेती है। वह सोचने लगा तो यह आत्मदान उस नारी का है, जो एक बार अपने आप को अन्य व्यक्ति को समर्पित कर चुकी है? किन्तु तत्काल वह सोचने लगा—लेकिन उसने कभी अपने जीवन पर तो इसकी छाया पड़ने नहीं दी। उसका समर्पण तो कभी अधूरा रहा नहीं। अविश्वास का पात्र तो उसने कभी अपने को बनने नहीं दिया, और उसका यह साहस क्या कम प्रशंसनीय है कि बात उठने पर वह मुँह पर ही साफ-साफ कह रही है।

उत्तर पा जाने के बाद थोड़ी देर हो गयी थी, और विनोद चुपचाप बैठा सोच रहा था। अब उसका ध्यान पूर्णिमा की ओर आकृष्ट हो उठा और उसकी दृष्टि उस पर जा पड़ी। शशि उसकी गोद में ही सो गयी थी, और वह स्वयम् आलस्य-ग्रस्त जान पड़ती थी।

कल्पना में पूर्णिमा ने उपस्थित विषय को, जितना चिन्ताजनक समझ रखा था, व्यवहार रूप में उसने अनुभव किया, वैसा वह वास्तव में है नहीं, क्योंकि उस समय उसे प्रतीत यही हुआ कि स्वामी पर उसका कोई विशेष, प्रभाव पड़ा नहीं है।

थोड़ी देर बाद फतेहपुर में गाड़ी खड़ी हो गयी और विनोद डब्बे से उतर कर पानी लेने चल दिया। वह डब्बे से बाहर हुआ ही था कि

देखता क्या है, पानी वाले के पास खड़ा हुआ जो आदमी चुल्लू से पानी पी रहा है, वह तो जनार्दन है। तब उसे आश्चर्य्य हुआ पर उस समय वह कुछ बोला नहीं; लेकिन ज्यों ही वह पानी पीकर जाने को हुआ कि विनोद ने उसका हाथ थाम लिया। बोला—"जाते कहाँ हैं? आपसे मुझे कुछ काम है। पहले पानी ले लूँ, बाद में इतमीनान से कहूँगा। आपको मेरे पास बैठना होगा।"

जनार्दन नहीं जानता था कि वह अकस्मात् इस तरह फँस जायगा। पूर्णिमा से मिलकर वह तो जा ही रहा था। पर फिर मिल गया उसका साथी निर्मलचन्द। उसने हाथ पकड़कर उसे डब्बे के अन्दर कर लिया। इस प्रकार वह विवश होकर इस गाड़ी में चल रहा है। विनोद को देखकर और फिर इस रूप में उसका प्रस्ताव सुनकर वह और भी विस्मित किन्तु विचारग्रस्त हो पड़ा। उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि इस ट्रेन से चलने का उसका कतई इरादा नहीं था। किन्तु अपने मित्र के आग्रह को वह टाल नहीं सका।

जनार्दन उस समय पानी ले रहा था। कैफियत सुनकर उसने इतना ही कहा—"लेकिन मैं खुद भी आपको छोड़ नहीं सकता। आप यह सफाई किसे दे रहे हैं?"

पूर्णिमा बैठी शशि को थपथपा तो रही थी। पर उसकी दृष्टि प्लेट-फार्म पर थी। थोड़ी देर बाद देखती क्या है कि स्वामी के साथ जो दूसरा व्यक्ति आ रहा है वह और कोई नहीं, वही जनार्दन है—गम्भीर और चिन्तित।

विनोद ने अपने फैले होलडाल का आधा भाग जनार्दन के लिए खाली कर दिया। फिर मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ परम उल्लास के साथ बोला—"आप बेकार इधर-उधर भागे फिरते हैं। मैं अगर ऐसा जानता, तो आपको जाने ही न देता।"

जनार्दन को पता नहीं है कि पूर्णिमा ने सारी स्थिति स्वामी के समक्ष स्पष्ट रूप से रख दी है। अतएव वह बोला—"किन्तु जैसा कि मैंने

अभी आपको बतलाया, पिछले डब्बे में निर्मलचन्द बैठा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा। कम से कम उसको यह तो मालूम होना चाहिए कि मैं यहाँ बैठा हूँ।"

विनोद हँसने लगा। हँसते-हँसते पानदान से पान निकाल कर उसे देते हुए वह बोल उठा—"प्रतीक्षा करने दीजिए उनको! हानि क्या है? प्रतीक्षा करने वाला भी तो आखिर कोई-न-कोई, कहीं-न-कहीं होना चाहिए। यदि कोई मेरी प्रतीक्षा करने वाला हो, तो मैं तो उसे इस सुख से कभी वंचित ही न करूँ। इनसे पूछ देखिये, कभी इन्होंने मेरी प्रतीक्षा की है? फिर स्वयम् पान खाते-खाते मुस्कुराते हुए उसने कहा—"पूछिये, मैं कहता हूँ--आप पूछते क्यों नहीं हैं?"

तब जनार्दन ने एक बार पूर्णिमा की ओर देखा। देखा, वह प्लेट-फार्म की ओर देख रही है, और गाड़ी सीटी दे रही है। तब अत्यधिक संकुचित जनार्दन बोला—"आप कह क्या रहे हैं, किससे कह रहे हैं, मैं कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ।"

अब अत्यन्त दृढ़ होकर विनोद ने उत्तर दिया—"मैं उस व्यक्ति से कह रहा हूँ जो शशि का मामा है, और जिसने देश को अपना जीवन सौंप दिया है। वासना को जिसने पीसकर धूल में मिला रखा है। यहाँ तक कि शारीरिक धर्म-पालन पर भी जो विश्वास नहीं करता। जिसका जीवन संकटों से घिरा है, किन्तु जिसके मानस-क्षेत्र को उसकी असफलताओं ने इतना विचलित कर डाला है कि वह या तो अपने को धोखा दे रहा है, अथवा अनुकूल पथ के अभाव में इधर-उधर भटक रहा है।"

गाड़ी जरा-सी पीछे हट रही थी कि उसी क्षण जनार्दन उठकर तपाक से प्लेटफार्म पर आ गया। विनोद चकित, विस्मित उसकी ओर देखता रह गया। हाथ जोड़कर उसने कहा--"आप लोग मुझको क्षमा करेंगे।" गाड़ी और आगे बढ़ने लगी। अब एक ओर निर्मलचन्द उसे पुकार रहा था, दूसरी ओर विनोद।

पूर्णिमा कह रही थी—"अब जाने कब मिलना हो जनार्दन भैया। कभी-कभी पत्र तो डाल दिया करो।"

जनार्दन ने इस बार कोई उत्तर नहीं दिया। एक बार उसने पूर्णिमा की ओर देखा। फिर एक बार वह मन ही मन सोचने लगा—"मैं कभी मिलूँ या न मिलूँ, कभी पत्र भेजकर तुमको याद करूँ या न करूँ, किन्तु तुम जन्म-जन्मान्तर अपने इसी आदर्श पर दृढ़ रहना बहन। मैं कभी कोई शिकायत न करूँगा।"

उसने लक्ष्य किया!···विनोद अब भी खिड़की से सिर निकाले उसे देख रहा है। उस बार विदा के क्षण उसका रूमाल दूर से फहरा रहा था, किन्तु इस बार वही रूमाल उसकी भीगी पलकों को सुने में लीन हो गया।

अंतिम भेंट

एक कच्चा मकान है। उसके दरवाजे पर जो छप्पर पड़ा हुआ है, वह कुछ अधिक नीचे झुक गया है। उसकी देहली के दोनों ओर पहले कभी दो चबूतरे रहे होंगे। आज उनके चिह्नमात्र दीख पड़ते हैं। जान पड़ता है, वर्षा की झड़ियों की छोटी-छोटी बूँदों की कीलों ने उन्हें छेद-छेदकर घुला-घुलाकर बहाया है। वर्षों लगातार कटते, घुलते और बहते-बहते वे इतने मिट गये हैं कि दीवाल से लगे उसके मूलभाग में अतीत के नाम पर पंजरमात्र जान पड़ते हैं। घने पुआल का छप्पर धूप के उत्ताप से जलकर और वर्षा की हफ्तों न रुकनेवाली झड़ियों और वायु के प्रचण्ड आघातों से सड़-सड़कर उड़ता और गिरता-पड़ता हुआ बिल्कुल छलनी हो गया है। उसकी थूनियाँ अपने आधार-स्थलों से नीचे खसकते-खसकते एकदम से लटक गयी हैं। हवा के एक झोंके मात्र की प्रतीक्षा में पता नहीं कितने दिनों से वे इसी प्रकार लटकी हैं। दरवाजे के किवाड़ों की फाँकों में कहीं लखौटी ने घर बना लिये हैं, कहीं ऊपरी चौखट के कोने में मकड़ी का जाल पड़ा हुआ है। एक जाले में फँसी और टँगी मक्खी अपने शरीर से इतनी निर्जीव हो गयी है कि छूने-मात्र से उसकी टाँगें और पंख अँगुली के पोर पर आ जाते हैं। एक किवाड़ आधा खुला है और देहली की निचली सतह में किवाड़ के उस पार इतनी मिट्टी जम गयी है कि वह अपने स्थान पर त्रेतायुग के आदि पुरुष जातीय-वीर अङ्गद के अटल पैर की भाँति चिर-स्थिर होकर रह गया है। पता नहीं, कब से यह दरवाजा खुला का खुला पड़ा है। कौन जाने कब से इसके भीतर किसी ने पैर नहीं रक्खा। दिन का प्रकाश और रात्रि का अन्धकार समान भाव से इसके खुले, सीमित और स्थिर मार्ग से अन्दर जा-जाकर लौटा है। पवन के झकोरों और घटती-बढ़ती

चन्द्रज्योत्स्ना ने समान भाव से इसके अन्तःपुर में झाँका और उसके कलेवर को देर तक एकटक देखा है। ऐसा जान पड़ता है जैसे मनुष्य और उसकी आज की सभ्यता के पूज्य चरणों की पवित्र तीर्थरेणु ने भी इस घर को अछूता छोड़ जाने में जिस असीम कार्याधिक्य और समयाभाव का परिचय दिया है, उसकी ओर स्थानिक स्वराज्य के अधिनायकों का ध्यान संयोग से ही नहीं गया है। अन्यथा इसके लिए भी एक जांच-कमेटी नियुक्त होने और उसके कार्य-विवरण लिखे जाने के आश्वासन को वार्षिक विशेषता का उल्लेखनीय अंग बनाने में देर न लगती।

दशमी का चन्द्रमा अभी-अभी अस्त हुआ है। गाँव के पहरुवे को इधर से गुजरे हुए पाँच मिनट भी न हुए होंगे कि सिर से पैर तक काले लबादे से ढके हुए एक लम्बे सतर्क युवक ने इस घर के अन्दर प्रवेश किया। अधखुले किवाड़ को पीछे ढकेलने की सम्यक, किन्तु व्यर्थ चेष्टा करते हुए जब वह व्यक्ति भीतर जाने लगा, तो एक बार उसने पुनः द्वार की ओर स्थिर दृष्टि से देखा। देखा, मनुष्य के अस्तित्व की कोई क्षीण छाया भी उसके पीछे नहीं आयी। तब क्षणिक निश्चिन्त होकर वह भीतर चलता चला गया। अब भी उसका दायाँ हाथ एक बोझिल हिंसक वस्तु पर था। वह व्यक्ति रातों-रात चालीस मील की पैदल यात्रा करके आया था। उसकी भूखी अँतड़ियाँ पेट के भीतर भूमिशायी मछली की भाँति तड़प रही थीं। उसके पैर और पिंडुलियाँ अगले कदम-कदम पर शिथिलता से चूर-चूर हुई जा रही थीं। उसके दोनों कन्धों, वक्ष और पृष्ठ के भीतरी वस्त्रों में पसीना इस भाँति सूख-सूखकर ताजा हुआ था कि उससे एक दुर्गन्धपूर्ण गैस-सी फूट उठती थी। भीतर जाते ही उसके मन में आया कि वह टार्च का स्विच दबाकर एक बार उस घर के तत्कालीन नक्शे को अपनी दृष्टि की परिधि में भर ले; फिर उसने यह भी सोचा कि उसके बाद ही चाहे प्रकाश को एक अवधि तक के लिए लुप्त कर दे, परन्तु उसने ऐसा न करके अपने

दायें खुले हाथ से ही हर एक वस्तु को टटोल-टटोल कर स्थिति जानने की चेष्टा की। पहले उसकी दृष्टि सामने के उस छप्पर पर पड़ी, जो आँगन की चौरस भूमि के उत्तर भाग में धरातल को छूता हुआ दीवाल और थूनी के कन्धों पर अपनी भुजाएँ पसारे उनसे चिपका हुआ मौन खड़ा था। फिर उसने दक्षिण के उस कमरे की ओर एक जीर्ण-जर्जर आशा-भरी दृष्टि से देखा, जिसमें उसकी माँ चारपाई पर खाँसती पड़ी रहा करती थी। उस कमरे के दरवाजे के किवाड़ अब गायब थे और घने अन्धेरे में यह अब एक खोखला काला कोठा मात्र रह गया था। उसके दरवाजे के एक ओर दीवाल से संयुक्त जो दीपाधार था, एका-एक उसका दायाँ हाथ उस पर जा पड़ा। एक मृत्तिका दीप अब भी वहाँ उपस्थित था, उसकी बाती तो जल ही गयी थी, साथ ही राख भी उड़ गयी थी। उस खुले अन्धे द्वार पर खड़े-खड़े उसने स्थिर दृष्टि से एक बार उसके भीतर की ओर देखा। जब काले अन्धकार की छाती चीरकर किसी वस्तु की प्रशान्त छाया का भी भान उसे नहीं हुआ, तब फिर एक बार अपने चतुर्दिक देखते हुए उसने बायें हाथ के टार्च का बटन दबा दिया।

कमरे में सील अधिक थी और फर्श पर यत्र-तत्र चूहों की लेंड़ियाँ पड़ी हुई थीं। एक ओर बिल्ली का छोड़ा हुआ किसी चिड़िया के बच्चे का पंख और पंजे भर का अवशिष्ट अंश सूखा पड़ा था। उसी ओर एक पर एक रक्खे मिट्टी के बर्तन क्रमहीन अवस्था में पड़े थे, जिनमें से एक चारपाई के पावे के पास लुढ़का, फूटा पड़ा हुआ, चूहों की चढ़ाई का परिचय दे रहा था। सबसे पहले उसकी दृष्टि चारपाई के पैताने भाग पर जा पड़ी, जिस पर स्थित एक पैर पाटी के नीचे की ओर लटका हुआ था, दूसरा सीधा सीरो पर पड़ा था। धोती मैली चीकट-सी कई जगह सिली होने पर भी, फटी और जर्जर थी। पिंडुलियाँ दोनों खुली थीं।

क्षण भर के बाद वह एकाएक पूर्व की ओर घूमकर उस चारपाई

के सिरहाने जा पहुँचा। उसने उस मृतप्राय काया के मस्तक पर हाथ रक्खा तो उसे प्रतीत हुआ, अभी गरम है। साथ ही उसका ध्यान हृदय की गति पर भी आकृष्ट हुआ। उसे बोध हुआ अभी जीवन शेष है और साँस धीरे-धीरे चल रही है। आशा की एक किरण का उसमें संचार हुआ ही था कि उसकी दृष्टि उसके सन हो रहे केशों और सफेद भौंहों पर चली गयी। फिर उसने उस पोपले, झुर्रियों की बस्ती बने हुए सूखे, शान्त मुख की ओर देखा। उसे ऐसा जान पड़ा, मानों इसे किसी से भी कुछ शिकायत न हो, इसकी कोई अभिलाषा न हो, जैसे यह किसी से कुछ नहीं चाहती। कामना नाम की वस्तु का इसमें लोप हो गया है। यह जा रही है और जाते समय यह सूचित भी नहीं करना चाहती कि मैं जा रही हूँ।

तब उसकी आँखें भर आयीं। उसके मन में आया कि एक बार वह फूट-फूट कर रो ले। किन्तु उसी क्षण उसे अपने स्थिति का बोध हो आया। साथ ही उसे यह भी चेतना हो आया कि रोने से होता क्या है? आज बीस वर्षों के बाद उसने अपनी माँ का मुख देखा है। बीस वर्षों के बाद ! जब उसने इस घर से प्रस्थान किया था, तब उसका घर-द्वार, उसके पिता और भ्राता, उसके प्यारे से प्यारे गाँव के बन्धु और सनेही, सब तो मौजूद थे। और उसकी वह माँ ! और आज की यह माँ !! उसने अचेत माँ के पैरों को अपने मस्तक और सिर पर रख लिया। आँखें मूँदकर उसने अपनी चिरदिन-वंदित शपथ दुहरायी। मेरे प्राण तेरे उद्धार के लिए हैं, मेरा जीवन तेरे उद्धार के लिए है। मैं जीते-जी तुझे सुखी और स्वतंत्र करके दम लूँगा। वह अपने भीतर एक स्वर का अनुभव कर रहा था—"कौन कहता है, तू जीती नहीं है, कौन कहता है, तेरा जीवन-दीप बुझ गया है? तू स्वस्थ होगी, तू प्रसन्न होगी। तू हँसेगी, बोलेगी और तेरा आशीर्वाद और शक्ति दान से भरा हुआ यह हाथ सदा मेरे सिर पर छत्र और छाया बनकर स्थिर रहेगा।

वह कई रात का जगा हुआ था। वह अनेक नगरों में अनेक

प्रकार के लोगों और समूहों में, घूमता और उन्हें आदेश करता आ रहा था। कई दिन से उसे दम मारने का भी अवकाश नहीं मिला था। वह बहुत थका और बहुत भूखा था। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी वह अपनी चेतना में कहीं से भी क्षीण नहीं था। क्षण भर ही इस स्थिति में रहकर वह टार्च का स्विच 'ऑफ' करके चुपचाप जैसे आया था, वैसे ही लौट गया।

आते समय वह निराश था। स्वदेश की समस्याओं के प्रति सजग रहते हुए भी वह अपने शरीर से लगे सम्बन्धों के प्रति उदासीन नहीं हो पाया था। वह मानता था कि अपनी अन्तिम साँस तक जीवन का पूरा मूल्य पाने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। इसलिए जेल से भाग कर सबसे पहले अन्य आवश्यक कार्यों को निपटाता हुआ वह सीधे माँ को देखने चला आया था। वह लौट तो रहा था, पर इस बार वह निराश नहीं था। उसका हृदय अशांत था, किन्तु उसका मस्तिष्क तब भी क्रिया-शील था। आते समय वह अशंकालु भी अधिक था। उसकी सतर्कता से जब कभी अमांगलिक सम्भावनाओं का समूह जा मिलता, तो उसके पैर काँप उठने की स्थिति के निकट जा पहुँचते थे। अब यह बात न थी। आशंकाओं का स्थान अब कर्तव्य की गुरुता और तज्जन्य दृढ़ता ने ले लिया था। वह प्रसन्न था कि जेल से उसका भागना व्यर्थ नहीं गया। उसकी माँ जीवित है और उसकी साँसों की गति को उसने अपनी आँखों से जी भरकर देख लिया है। उसे संतोष था कि माँ के चरणों की रज उसने पा ली है और अब उसे संसार की कोई शक्ति कर्तव्य से विमुख नहीं कर सकती। वह सोच रहा था कि मातृमन्दिर से वह लौट रहा है। मोटे रूप में वह माता को छोड़ कर जा रहा था, किन्तु वह अनुभव यही कर रहा था कि माँ को उसने पा लिया है, यह उसके निकट है, वह जीवित है और वह जीवित रहेगी, वह मर नहीं सकती, मैं उसे कभी मरने न दूँगा। मैं उसके निकट से दूर नहीं हो रहा हूँ। मैं तो उसके निकट आ रहा हूँ। मैं जा नहीं रहा हूँ, मैं भी आ रहा हूँ।

क्षण-क्षण पर उसके मन में नाना प्रकार की बातें आती थीं। एक दम से जड़ बनकर एक आध बार तो उसके मन में यह विचार भी आया कि माँ के शेष जीवन का अब मूल्य ही क्या है। मान लो, वह दो-चार वर्ष और अधिक जीवित भी रही, तो उस जीवन की उपयोगिता क्या होगी? राष्ट्र के लिए, संसार और मनुष्य जाति के लिए, अब उसका जीवन अपना क्या अर्थ रखता है? किन्तु अपने इस विचार के प्रति वह तत्काल जैसे हिंसक हो उठा। वह सोचने लगा—क्या ऐसा सोचना सभ्यता के विकास का लक्षण है? यह तो आदि से अन्त तक मनुष्य की जड़ता, उसकी अमानवी स्वार्थपरता और हीनता का ही परिचय देता है।

वह दस कदम भी अभी आगे न बढ़ा होगा कि एक बार फिर उसके मन में आया देश की ताजी, स्वस्थ और अत्यन्त महत्वपूर्ण तरुण समस्याओं के आगे मृतप्राय व्यक्ति के लिए इतना अधिक सोचना और व्याकुल होना बौद्धिकता कदापि नहीं हो सकती। किन्तु अपनी इस माँ के सम्बन्ध को लेकर वह अपने और अपने इस विचार के प्रति एकदम से घृणा-भाव से भर गया। सोचने लगा—यदि मनुष्य की प्रत्येक साँस का मूल्यांकन इस ढंग से किया जायगा, यदि भारत की स्वाधीनता के नाम पर मर मिटने वाला एक व्यक्ति मात्र हूँ, यदि मैं लक्ष-लक्ष नहीं, कोटि-कोटि भारतीयों का प्रतिनिधित्व रखकर भी आज की इस घड़ी तक एक व्यक्ति की ही सीमा में निबद्ध हूँ और मुझ जैसे व्यक्ति को उत्पन्न करने वाली जननी की स्थिति भी एक साधारण व्यक्ति की ही मर्यादा रखती है, तो जन-गण, जन-समाज और जन-सत्ता के पावन आदर्श की स्थापना भी एक हवाई किला है, एक क्षणिक स्वप्न है। वास्तविक माता की पावन मूर्ति की अर्चना का भाव यदि हममें न होता, तो भारतमाता और पृथ्वी माता का भाव कभी सम्भव न होता। अपनी ही माता का भाव ही तो व्यापक और विशाल होकर हमको राष्ट्रमाता की ओर उन्मुख करता है।

अब उसके समक्ष एक भीषण समस्या उपस्थित हो गई थी। वह यह कि ऐसी स्थिति में माँ के लिए वह करे क्या ? जब वह प्रकट होने में असमर्थ है और जब उसका प्रकट होना केवल आत्मघात न होकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना और भविष्य के स्वर्ण-प्रभात के नाम पर विश्वास-घात है, तब वह इस माँ के लिए किस प्रकार कोई प्रबन्ध कर सकता है ? अपने गाँव में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं, जिसके यहाँ वह क्षण भर भी ठहर सके। सब के सब तो कायर, अविश्वसनीय और ऐसे उत्तरदायित्व से भरे कार्यों के लिए अयोग्य हैं। जब उनसे मिलना तक सर्वथा भयावह और आपत्तिजनक है, तब उनको कोई कार्य सौंपना तो और भी अधिक मूर्खता होगी।

जैसे किसी पहाड़ी नदी का तीव्रतम प्रवाह बीच की किसी पाषाण-शिला से टकरा कर एक-दम से उछल कर चीख उठता है; जैसे किसी आँधी का उद्दाम वेग महलों की चोटियों पर छायी टीन की लम्बी से लम्बी वजनी चद्दरों को कदली-पल्लव की भाँति चीर कर दूर-से-दूर फेंक देता है; और जैसे तलवार की लपलपाती धार पहले ही वार में कभी-कभी जीवन का दूसरा छोर दिखला देती है; ठीक उसी प्रवाह, आँधी और कृपाण की भाँति वह बलराम अपने भीतर--अपने ही भीतर टकराता है, अपनी छाती चीरता है और अपने ही भीतर कृपाण चला रहा है।

इसी समय उसे ध्यान आ गया अपने बालसखा कृष्ण-प्यारे का। पुरानी स्मृतियों ने शरीर में जैसे सिहरन उत्पन्न कर दी। बन्धु की भाँति कब उसने गले नहीं लगाया ? अनुचर और सेवक की भाँति कब उसने सेवा नहीं की ? परम आत्मीय की भाँति प्रत्येक प्रकार की सहायता के लिए कब वह तत्पर नहीं रहा ? उसने बीमार पड़ने पर उसका मल-मूत्र उठाया। आवश्यकता पड़ने पर सब कुछ गुप्त रखने के उद्देश्य से, एक अपढ़ नौकर की भाँति रहकर उसने विजातीय परिवार भर के जूठे बर्तन मले। दो बार दासी बन कर, स्त्री की पोशाक बदलवा कर, वह उसे भगा लाने में सहायक हुआ। स्वयं भूखा रह कर उसने उसे भरपेट भोजन कराया। संकट

के समय आवश्यकतानुसार तत्काल रुपया जुटाने में उसने अपनी पत्नी के आभूषण तक बेच डाले। कैसा हँसमुख और कैसा दिलदार! अः!! स्मरण आते-आते उसकी आँखें भर आयीं।

"लेकिन कौन जाने, किस दशा में हो? कौन जाने समय के दुर्निवार आघातों ने उसे कहाँ जा पटका हो? घर-द्वार और समाज से कौन जाने कितनी दूर हो? और यही क्या पता कि वह इस संसार में होगा ही?"

"धुत्! इसी को कहते हैं निराशावाद! यही तो अगति की ओर ले जानेवाली वृत्ति है। संयोजना के क्षण, ऐसी अमांगलिक सम्भावना का अर्थ? ऐसा नहीं हो सकता कि वह जीवित न हो। बलराम जीवित है और हमारा कृष्णप्यारे मर जायगा? असम्भव!"

"तब, यही तो उसका घर है। बस, यही। यह रहा दरवाजे का नीम। किन्तु यहाँ तो दो नीम पास ही पास थे। यहाँ एक ही है। तब एक गिर गया होगा। जो मौजूद है, वह तो बिल्कुल वही है, जहाँ यह बिड़ौरी है। यहीं चबूतरा था। यही वह डाल है, जिसमें श्रावण मास में वह झूला झूला करता था।"

हाय रे मनुष्य! झूला का स्मरण आते ही फिर कुछ हरी स्मृतियाँ पास आकर खड़ी हो गयीं। वह पार्वती! हाय! वह विवाह के बाद पाँच वर्ष के भीतर ही विधवा हो गई थी। उसका प्यार याद आ गया उसका अलसाया बचपन याद आ गया; फिर उसका अग्रगामी विकास। वह परिहास-मुखर स्वभाव, वह लालसा-मत्त यौवन, वह चिर-प्रसन्न, चिर-उन्मत्त और चिर-शोभन मुखछवि! हाय रे दुर्भाग्य, सब कुछ छुड़ा दिया तूने!

पत्थर हो रहे मन और लौह-स्तम्भ हो रहे तन का यह व्यापार कोई देख ले। आखिरकार आँखें भर ही आयीं। खैर, जाने दो इस बात को। ये सब जीवन के मोह अब हमारे लिए छोटी चीज बन गये हैं।

हम इनमें फँसने वाले नहीं रह गये। हम आगे बढ़ आये और वह पार्वती भी अब क्या जाने कहाँ हो और कैसी हो ! मिल भी जाय, तो बलराम एक बार मुस्कराकर यही कह दे, अब टाल जाओ पार्वती। हम दूर चले आये।

इसी क्षण गाँव के चौकीदार का स्वर सुनाई पड़ा। ओह कितने जोर की आवाज है यह ? गाँव के इस छोर से उठ कर उस छोर तक ही नहीं, यह तो मील भर से भी ज्यादा दूर तक गूँज कर रह गयी। और यह पद-ध्वनि भी तो उसी की है। जान पड़ता है इधर ही आ रहा है। अब ? जूते उसके रबर के हैं सही, लेकिन वह छिपे भी तो कैसे ? यह ओवरकोट भी बाधक हो गया है इस समय। नहीं तो वह इस नीम पर ही चढ़ जाता। लेकिन क्षण भर भी विलम्ब का अर्थ है सम्पूर्ण अनर्थ; चूके, कि गये। लो, वह आया, वह।

तब क्षण भर में ही उसने कोट उतार कर कन्धे पर रक्खा और वह उछल कर उसी नीम के तने के उस ओर जा चिपका। यह रही गाँठ, और यह ? हाँ, यह रहा कटा डाल का स्कन्ध-मूल, और तब यह लम्बी समूची डाल का कन्धा। वह उसी पर जा बैठा। टहनियाँ जरा-सी हिलीं, झुकीं और फिर सब शांत, एक मूकता; स्थिरता और दृढ़ता; एक दाँव, छल और युक्ति; एक धीर-गम्भीर अचूक शतरंजी चाल और मात। यह जा रहा है शासन की शांति और व्यवस्था का, बेचारा निम्नतम अनुचर। जा रे जल्दी। कहीं पहरा देने में इतने धीरे चला जाता है। हाँ, यह आया गली का मोड़। बस झट से आगे बढ़ तो जा। हाँ, बस इसी तरह···। वह जा रहा है। पद-ध्वनि उत्तरोत्तर मन्द हो रही है, मन्द हो रही है। रात मूक है। रात शान्त है। तू भी मूक और शान्त हो जा। और तुम—शाखामृग बलराम—चाहो तो उतर आओ।

उन्नति में देर लगती है, क्योंकि उसमें ऊपर उठने का विधान है। और यह पतन, यह नीचे खिसकना ! एक-दो-तीन; हाँ, बस ठीक है। बलराम नीम के नीचे खड़ा है। किन्तु नीचे भूमि पर पैर रखते ही उसकी

पहली दृष्टि जिस व्यक्ति पर पड़ी, उसने निकट आकर धीरे से कह दिया—गाँव को सशस्त्र पुलिस ने चारों ओर से घेर लिया है।

"तो क्या यही ठीक रहा कि कृष्ण प्यारे को जगाया जाय ?"

"हाँ, भाई। इसके सिवा और चारा भी क्या है ?"

बलराम आगे बढ़ा। दरवाजा भी जर्जर हो रहा है। साँसें दिखती हैं। वर्षा ने लकड़ी को सड़ा डाला है। अँगुलियों की गाँठ की ठोकर से तीन बार कुट्-कुट् किया। एक क्षण, दो क्षण। कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला। तब इस बार जरा और जोर से चोट की।

भीतर से आवाज आयी—"दादा, दादा !"

"हूँ ! क्या है ?"

"कोई दरवाजे पर खट-खट कर रहा है। मैंने जब दुबारा सुना, तब आप को जगाया है।"

बलराम ने साँसों से कान लगाकर एक-एक शब्द सुना। तब पुनः उसने कुट्-कुट् किया।

भीतर से फिर आवाज आयी—अरे ! कौन है ? रात-बिरात तो जवाब ही देना चाहिये।

"एक आदमी हूँ। भूत नहीं हूँ। आकर पहले किवाड़ खोलो, तब और बात करो।"

"यह पदध्वनि तो परिचित है ? हाँ, चिर-परिचित है। आओ बन्धु, किवाड़ खुल रहे हैं।"

"भाग्य के ?" बलराम के भीतर प्रश्न उभरता है।

"हाँ, भाग्य के ?" उत्तर चाहे जैसा पा लिया जाय। घर की तो खेती है।

"कौन हो भाई, कहाँ से आये इतनी रात को ?" कहकर वह व्यक्ति वहीं दरवाजा खोले खड़ा रहा।

उत्तर में बलराम ने दरवाजे पर रक्खे उसके हाथ को हटाकर झट से दरवाजा बन्द कर लिया।

अन्धकार के उस घने राज्य में कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे वह सद्-गृहस्थ आशंका और भय से एक बार काँप उठा हो।

अब बलराम ने कहा---"घबराने की जरूरत नहीं है। धैर्यपूर्वक यहीं बैठ जाओ और दो बातें कर लो। प्रातःकाल होने से पूर्व ही मैं चल दूँगा। और नाम ही अगर जानना चाहते हो तो मेरा नाम है मृत्यु। बोलो, मुझसे बात करोगे—मुझे प्यार करोगे?" अन्तिम शब्द कहते-कहते उसके कण्ठ में मनुष्यता का मर्म-रव फूट ही पड़ा।

"मेरे बलराम?"

"हाँ, कृष्ण प्यारे।"

दोनों ने एक दूसरे को छाती से लगा लिया।

× × × ×

बाहर कई व्यक्तियों के चलने की खटपट सुनायी पड़ती है और किवाड़ों की साँसों से टार्च से पड़ने वाली रोशनी की रेखाएँ भीतर आ रही हैं।

———

दर्पण

कल केशव को अपने काम से छुट्टी लेते-लेते काफी देर हो गयी थी। फिर भी अलका से मिलना उसके लिए आवश्यक था। इसलिए जब वह उसके यहाँ पहुचा, तो बाहरी दालान में रमियाँ उसे दीवाल से लगी ऊँघती-सी मिली। केशव जो पास पहुँचा, तो यकायक चौंक पड़ी। फिर तत्काल सम्हलकर बोली—"बीना तो सो गई। हाँ, बहूजी जग रही हैं।"

केशव बोला—"अच्छा" और अन्दर चला गया। अन्दर से ऊपर जाने को जीना था, उस पर चढ़ता हुआ वह एकदम से वहीं जा पहुँचा, जहाँ दो पलंगों पर मसहरी लगी हुई थी और पंखा मन्दगति से चल रहा था।

आहट पाकर अलका ने पूछा, "कौन ?"

"मैं हूँ केशव, और ऐसे कुसमय एक जरूरी काम से आया हूँ।"

खड़े ही खड़े इतना कह पाया था कि रमियाँ ने कमरे के अन्दर से एक कुरसी लाकर उसके पास रख दी। केशव उस पर बैठ गया। लेकिन अलका ने जब कुछ नहीं कहा, तब यकायक केशव उस कुरसी से उठकर छत के एक कोने पर जा खड़ा हुआ।

इतने में अलका ने करवट बदलते हुए जो देखा, केशव कुर्सी पर नहीं है तो उसके मुँह से निकल गया—"अरे! कहाँ चल दिये? अच्छा तो उधर जाकर खड़े हो। कुर्सी खाली देखकर मैं तो डर गयी थी कि कहीं लौट तो नहीं गये।"

केशव पुनः कुर्सी पर आकर बैठ गया। अलका ने लक्ष्य किया इधर आते-आते वह जैसे कुछ कहते-कहते रुक गया है। तब उसे इस बात का भी ध्यान आ गया कि आते क्षण उसने कहा था—"मैं इस समय एक

जरूरी काम से आया हूँ। पर अब तक उसने यह नहीं पूछा कि वह कौन-सा काम है। तब उसने पूछ दिया, "उधर क्या देख रहे थे?"

केशव ने जैसे टालते हुए कह दिया—"कुछ नहीं, यों ही जरा।" जैसे उसके मन में कोई "किन्तु" बनकर रेंग उठा हो। और वह तुरन्त उस कुर्सी से उठकर पुनः छत के उसी कोने पर जा खड़ा हुआ, जहाँ सड़क के उस पार रेलवे लाइन पर खड़ी मालगाड़ी धुआँ दे रही थी।

तभी अलका बोल उठी—"बात क्या है, जिसको छिपाना तो चाहते हो?"

केशव मौन खड़ा रहा पूर्ववत्, बोला कुछ नहीं।

तब अलका बोली—"इधर आओ, सुनो जरा इधर आकर। मुझे भी तुम से कुछ कहना है" और मसहरी का वाम भाग उसने ऊपर फेंक दिया।

"बोलो, क्या कहना है?" कहता हुआ केशव फिर उसी कुर्सी पर आ गया।

अलका बोली—"बार-बार वहाँ क्या देखते हो जाकर?"

केशव टाल जाना चाहता था लेकिन फिर उसने अपना अन्तर खोल ही दिया। बोला—"देख रहा था कि मालगाड़ी खड़ी है। एंजिन धुआँ दे रहा है। लेकिन लाइन तो खाली है नहीं।"

अलका बोली—"आते समय तुमने कहा था—ऐसे कुसमय एक जरूरी काम से आ गया हूँ। सो वह काम भी यही था शायद। क्यों?"

इतने में दीवाल से लगे पुलिस-स्टेशन से एक बजने का घण्टा-रव गूँज गया। तब अलका कहने लगी—"एक बजे तो जरूरी काम सूझता है और तारीफ यह कि पूछने पर झट से बतलाया भी नहीं जाता।"

केशव शब्द साथी नहीं है, आह्वान का उत्तर वह सदा उत्सर्ग में देता आया है। किन्तु इस समय वह परिस्थिति के हाथों बिका हुआ था। फिर भी कार्य के महत्व को अक्षुण्ण बनाकर एक अपराधी के-से रूप में सोचने लगा—"ठीक तो है। मैं इस समय आया ही क्यों?"

"आखिर इरादे क्या हैं ?" अलका ने तब और स्पष्ट होकर पूछा। और स्पष्टता प्रायः कठोर हो जाती है।

तब तपाक से केशव के मुँह से निकल गया, "इरादे ऐसे कोई खास से नहीं हैं। यों ही चला आया था। अब आज्ञा चाहता हूँ।"

केशव अलका को बहुत दिनों से जानता है। यहाँ तक कि उसके जीवन का अन्तरङ्ग भी उससे छिपा नहीं रहता। वीणा तेरह वर्ष की हो गयी है। उसके बाद फिर अलका के कोई सन्तान नहीं हुई। उसके पति कैलाश बाबू को भी वह जानता है, जो इस देश में केवल तीन मास और विदेशों में नौ मास घूमते हैं।

उसे सतीश की याद आ रही थी। गरमी के दिन थे, रात के ग्यारह बजे थे। बाहर लान पर केशव का पलंग पड़ा हुआ था। कमरा बन्द करके वह सोने की तैयारी कर ही रहा था कि सतीश आ पहुँचा।

तब सतीश अण्डरग्राउंड था। केशव से यह बात छिपी न थी। इसलिए उसको सतीश के इस अनाहूत आगमन पर आश्चर्य के साथ गौरव का भी कम अनुभव नहीं हुआ। पहले तो वह उसे इकटक देखता रहा फिर किंचित हास झलका कर बोला—"धन्य भाग्य कि आपने स्वयं पधार कर मेरा गौरव बढ़ाकर" फिर कुर्सी की ओर संकेत करके बोला—"बैठिये।" फिर क्षण भर रुककर कहा—"बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?"

तब एक बार ऊपर से नीचे तक दृष्टि डाल सतीश ने कह दिया—"मैं आज तुम्हें निमंत्रित करने आया हूँ।"

"निमंत्रित करने ?" साश्चर्य केशव ने पूछा—"क्या मतलब ?—मैं समझा नहीं, और निमंत्रण का साधारण अर्थ मैं आपके सम्बन्ध में लगाना नहीं चाहता।"

तब सतीश बोल उठा—"देश पर आज जैसा संकट है, तुम्हें मालूम ही है।"

"मालूम है।......"

बात काटते हुए सतीश बोला—"लेकिन-वेकिन सुनने का अभ्यास मुझे नहीं है। तुमको मेरी सहायता करनी ही होगी।"

तब केशव के मुँह से निकल गया—"कोई ऐसा षड़यन्त्र तो नहीं है कि आप तो बाहर रह कर मौज उड़ायें और मुझे धधकती भट्ठी में ईंधन बन जाना पड़े।"

"तुमसे यदि ऐसी ही आशा होती, तो आज तुम नहीं, तुम्हारी कोई और मुझे अपने सामने देखती।"

सतीश कहने लगा—"आँसू पोंछने के लिए मुझे उसकी सुधि लेनी ही पड़ती। लेकिन भट्ठी के द्वार तक जाकर उस अग्नि का परिचय लेना ही चाहो, तो तुम्हें रोकूँगा नहीं।"

केशव विचार में पड़ गया। पर तभी सतीश बोल उठा—"पर मेरे लिए यह सम्भव नहीं कि आऊँ तुम्हारे पास सहायता के नाम पर और जाऊँ तुम्हें संकट में डाल कर। यह मित्रता नहीं, प्रवञ्चना है।"

केशव यह बात सुनकर हँस पड़ा। बोला—"मैं तो मजाक कर रहा था। अब आज्ञा कीजिये। बतलाइये, मुझे क्या करना है?"

सतीश कुर्सी से आकर खड़ा हो गया। बोला—"लेकिन मैं इस वक्त मजाक करने नहीं आया। चाहे इस कान से सुनो, चाहे उस कान से। गरमी की छुट्टियों का पूरा समय मुझे देना होगा।"

केशव फिर सोच-विचार में पड़ गया। वह मसूरी जाने की योजना बहुत पहले से बना चुका था।

तब केशव को चुप देखकर सतीश बोला—"देश की लाज आज किसके हाथ में है? उसका गौरव आज किसका मुख देख रहा है? उसकी दृष्टि आज किन पर अटकी है? उसका अन्तःस्वर आज कौन सुन रहा है?"

केशव अब भी मौन ही बना रहा। तब सतीश कह उठा—"मैं विमुख नहीं लौट सकता मेरे प्रश्न का उत्तर "न" नहीं हो सकता।

किसी ऐसे काम में मैंने कभी हाथ ही नहीं डाला, जिसमें मुझे सफलता न मिली हो। बोलो, कहो मैं तैयार हूँ।"

बस, इतना ही केशव के लिए यथेष्ट था उसे कहना ही पड़ा, "अच्छी बात है, मैं तैयार हूँ।"

अब सतीश ने सारी योजना केशव के सम्मुख रख दी। उसके आधारों की चर्चा करते हुए अपनी अन्तरात्मा का हाहाकार प्रकट हो गया। अन्त में उसने कहा—"हमें इस मुर्दा देश में फिर से जीवन डालना है। हमें उस जनता को फिर से जागृत करना है, जो मौत की जिन्दगी से जीती, एँड़ियाँ रगड़ती, नाक घिसती और टुकड़े-टुकड़े के लिए रात-दिन पिस-पिस कर उस दुनियाँ के तलवे सहलाती हुई अपनी गिनी-चुनी साँसें भी समाप्त कर रही है, जो परम्परागत सत्ता, अधिकार और शोषण के बल पर स्थिर है। और तुम जानते हो यह कार्य पैसे के बिना कैसे हो सकता है?"

तब केशव बोला—"मैं आपकी आज्ञा पूरी करने का पूरा प्रयत्न करूँगा।"

"मुझे विश्वास है, तुम्हारे इस आश्वासन पर ही नहीं, तुम्हारी कार्यशैली पर भी," संतोष-सा प्रकट करते हुए सतीश ने कहा—"लेकिन क्या इस काम को आज ही से शुरू कर सकोगे?"

इस पर केशव को क्षण भर सोचना पड़ा था।

यह बात नहीं कि आज केशव को इस वचन का ध्यान न हो। सतीश का एक-एक शब्द उसके कानों में अब भी गूँज रहा था। वह अलका से उसी की बात बताने आया था। उसे पूरी आशा थी कि अलका इस मामले में उसकी पूरी सहायता कर सकेगी। लेकिन उसे तो आज अलका से कुछ भय-सा उत्पन्न होने लगा था। वह सोच रहा था—अलका सुन्दरी है, सुसंस्कृत है, बहुत अधिक उदार है और पैसा भी उसके पास काफी है। लेकिन.........। नहीं नहीं, मैं यह सब कुछ नहीं जानता। मैं उससे कुछ कह नहीं सकता।

उधर जब उसने लौट जाने की बात कही, तो अलका बोली, "कुछ नाराज से जान पड़ते हैं ?"

केशव बोला—"नाराजी की इसमें बात ही क्या है ? देर भी तो काफी हो गयी है। चलिये दरवाजा बन्द कर लीजिये।"

केशव कहने को तो कह गया; पर फिर अपनी बात पर वह स्वयं विचार में पड़ गया—"क्यों, आखिर क्यों मैंने ऐसा कह दिया ? क्या यह जरूरी है कि वह दरवाजा बन्द करने के लिए स्वयं मेरे साथ जाय ?"

लेकिन तब तक अलका चल खड़ी हुई। बोली—"हाँ चलो। तुम्हें भेज ही आऊँ।"

तब आगे-आगे चला केशव और पीछे-पीछे अलका। दोनों मूक थे, लेकिन दोनों के मन अस्थिर थे।

यह आ गया जीना। खट-खट सीढ़ियाँ उतरने लगे। सीढ़ियों के सिलसिले में एक जगह मोड़ पड़ता था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते अलका बोली—"ताँगे पर आये हो ?"

"नहीं, साइकिल पर।" कहता हुआ केशव कुछ ठिठक गया।

"तब ठीक है।" अलका बोली—"लेकिन पूछने पर भी शायद बतलाना नहीं चाहते कि ऐसी किस जरूरत से इस वक्त आये हो ?"

"बतला दूँगा। बहुत जल्दी में कही हुई बात अपना महत्व खो बैठती है।"

"अपना-अपना ख्याल है। बहुधा देर में कही हुई बात पूरी ही नहीं होती।" कहती हुई अलका मुस्काने लगी।

"यह सीढ़ियाँ उतरी जा रही हैं कि चढ़ी जा रही हैं।" केशव सोचने लगा। फिर बोला—"सब कुछ व्यक्तियों की रुचि, इच्छा और परिस्थिति पर निर्भर रहता है। जल्दी के काम जल्दी में होते हैं—देर के देर में। यह एक साधारण नियम है। पर होने को जल्दी वाले काम भी देरी से होते हैं और देरी से सधने वाले काम भी मिनटों में निपट जाते हैं।"

इतने में नीचे का ड्राइङ्ग रूम आ गया। अलका ने प्रकाश के साथ-साथ पंखे का स्विच भी दबा दिया। फिर एक कुर्सी ग्रहण करती हुई बोली—"न मैं व्यक्ति हूँ, न परिस्थिति। मैं तो एकदम से जड़ हूँ। रुचि और इच्छा भी मेरी मर चुकी है। फिर भी इतनी रात को······। लेकिन आप तो जाना चाहते हैं। चलिये दरवाजा खोल दूँ। चलिये। अरे आप तो खड़े-खड़े मेरी बात सुनने लगे। आपकी तो जल्दी थी न जाने को?"

केशव का रक्त जैसे जमा जा रहा था। फिर भी कुछ न कहकर वह दरवाजे की ओर घूम गया। अलका भी पीछे हो ली। अब दरवाजा सामने था। अलका बोली—"खोलो! खोलो न? खड़े क्यों हो रहे? तुम्हें जाने की बड़ी जल्दी है न?

केशव के मुँह से निकल गया—"मैं अपनी बात सोच रहा हूँ।"

"कहो न क्या बात है? तुम मुझसे संकोच क्यों करते हो? मैं तो तुमसे अपना कुछ छिपाती नहीं।"

"सतीश को तो आप जानती हैं?"

"कहते जाओ। यह मुझसे मत पूछो कि मैं क्या जानती हूँ, क्या नहीं।"

"उन्हीं से कुछ बातें हुई थीं। उन्हीं की याद आ रही है। चलिये उसी कमरे में बैठकर बतलायें। देर तो हो ही रही है, और भी थोड़ी देर हो जायगी।"

फिर दोनों घूम पड़े और बैठक में आ गये।

केशव कुर्सी ग्रहण कर कहने लगा—"एक दिन उन्होंने अपने एक प्रवचन में कहा था—"मन की तृप्ति कभी नहीं होती। तृप्ति में पूर्णता नहीं होती। क्योंकि उसकी सत्ता अपूर्ण है। मनुष्य स्वयं भी तो अपूर्ण है। क्योंकि तृष्णामय उसका जीवन है और तृष्णा पूर्णता के मार्ग का अवरोध है। न वह सन्तोष की गैल है न मुक्ति का पंथ। क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति केवल संतोष और त्याग से ही संभव है।"

सुनकर अलका निचला होंठ हिलाकर हँस दी। बोली, "बस, इतना ही। मैं तो सोचती थी, यह गाड़ी इलाहाबाद की छूटी दिल्ली के बीच कहीं ठहरेगी ही नहीं। पर यह तो फतेहपुर में ही ठहर गयी।"

केशव सोचने लगा—असाध्य अवस्था का रोगी प्रायः इसी तरह बात करता है।

लेकिन अलका तब तक बोल उठी—"खैर जो भी हो। अब ये बातें बासी हो चली हैं। सुनते-सुनते कान पक गये। साफ कह दूँ तो तुम्हें शायद आश्चर्य हो, शायद बुराई लग जाय। लेकिन मुक्ति का जो अर्थ हम गृहजीवन में लिया करते हैं, वह एक प्रकार की कायरता है। और मुझे कायरता से नफरत है। सतीश जी जो चाहे कहें। लेकिन वे कोरे ज्ञान के हाथों पले हैं। अनुभव से दूर-जीवन को वास्तविकता से बहुत दूर। वे क्या जानें कि भूख की ज्वाला क्या वस्तु होती है जिन्होंने कुत्ते का मांस खाया, वे विश्वामित्र ऋषि थे और मेनका जैसी अप्सरा के संसर्ग से उन्होंने शकुन्तला को जन्म दिया था। क्या उन्हें संयम-नियम और इन्द्रिय-दमन की महिमा का यथेष्ट ज्ञान नहीं था?"

"कौन कहता है कि नहीं था?" केशव कुछ आवेश में आकर बोला—"लेकिन यदि नहीं भी होता, तो केवल भूख-भूख चिल्ला कर, केवल प्यास-प्यास का ढिंढोरा पीट कर उन्होंने एक ब्याह से दूसरा और दूसरे से बारहवाँ कभी न किया होता। किसी महात्मा के एक-दो बार तपोभ्रष्ट हो जाने पर जो लोग संयम-नियम की हँसी उड़ाने का अवसर पा जाते हैं वे यह क्यों नहीं सोचते कि जीवन भर भोग-विलास की फैक्टरी चालू रखने वालों ने आज तक कौन-सा महत्कार्य किया है? विश्वामित्र के चरणों की धूल भी वे बन सके हैं, यह जानने के लिए कभी उन्होंने शीशे में अपने आपको देखा है?"

अलका केशव की दुर्बलताओं से परिचित है। किस स्थान पर कौन-सा इंजक्शन उसके लिए लाभदायक होता है, यह भी वह जानती है। इसलिए कुछ द्रवीभूत-सी होकर बोली—"अभी तक यों नहीं देखा,

लेकिन अब देखना चाहती हूँ। बहुत दिनों से मँगाकर रख छोड़ा है। किसी दिन कमरे में लगाना चाहती हूँ, लग जाय तो देखूँ।"

बात कहाँ जा पहुँचेगी, केशव ने कभी सोचा न था। लेकिन जब अलका उपर्युक्त कथन के साथ रो पड़ी, तो केशव चुप हो गया। आवेश में आकर उसने बहुत कुछ कह डाला है। यकायक अब उसे ध्यान हो गया।

अलका ने टपकते आँसुओं को रोकने की चेष्टा नहीं की। रूमाल से उन्हें पोंछा भी नहीं। केशव के लिए इतना ही बहुत हो गया। तब डबडबाये आँसुओं से भरे नयनों की ओर इकटक देखकर कहने लगा—"मैं तुम से क्षमा चाहता हूँ अलका। किसी को अपमानित करके मन-ही-मन बड़प्पन के दम्भ से गौरव का अनुभव करना मेरा स्वभाव नहीं। और फिर तुम्हारा अपमान तो मैं अपनी हत्या मानता हूँ।"

इस बार अलका ने आँसू पोंछ डाले और कह दिया, "मैं जानती हूँ।"

फिर क्षण भर दोनों मौन रहे। ऐसा मौन किसे प्यारा नहीं होता?

अलका घड़ी देखती हुई बोली—"अब कहाँ जाओगे यहीं सो रहो। रात बहुत बीत गयी। बादल गरज रहे हैं। जान पड़ता है, वर्षा भी होगी। ऐसे असमय······।'

उत्तर में केशव कुछ नहीं बोला।

अलका कहती ही गयी—"चलो ऊपर तुम्हारे सोने का प्रबन्ध कर दूँ।"

और इतना कह कर जब वह अन्दर जाने लगी, तो केशव भी पीछे हो लिया, धीरे-धीरे मन्द-मन्द। एक पग नैतिक आदर्श का, दूसरा प्रकृति का।

———

विस्फोट

जेल की ओर प्रस्थान करने से पहले इन्द्रनाथ के कमरे में तलाशी हुई थी। उससे सामान ऐसा बिखर गया था, जैसे किसी पागल कुत्ते ने किसी वस्त्र को चीर-फाड़कर उसके चिथड़े-चिथड़े कर जहाँ चाहा वहाँ फेंक दिया हो। चलते समय उस बिखरे सामान को सुविधा से समेट भी न पाया था। कमरा डेढ़ साल तक उसी प्रकार बन्द पड़ा रहा। एक-आध बार खोला भी गया तो केवल इसलिए कि वह सामान नष्ट न हो जाय। उसे ऐसे ढङ्ग से रख दिया गया, जिससे वह सुरक्षित बना रहे। जेल से वापस आने पर इन्द्रनाथ उसी कमरे में ठहर गया है। पर अब उसे इसमें रहना नहीं है। हाँ, जब तक कोई सुभीते का मकान नहीं मिलता, तब तक इसमें रहना ही पड़ेगा।

उस दिन जब इन्द्रनाथ घूमकर लौटा, तो सात बज गया था। धूप निकल आयी थी और अलोपी अँगीठी पर चाय की देगची चढ़ा रहा था। एक महाशय बाथ रूम में बैठे दातून कर रहे थे। ऊपर के कमरे में स्टोव जल रहा था और उस पर जो चीज पक रही थी, उसकी गन्ध इन्द्रनाथ के लिए असह्य हो रही थी। पड़ोस में कहीं ग्रामोफोन बज रहा था। उसके गीत से इन्द्रनाथ के भीतर ही भीतर एक वितृष्णा-सी फैल रही थी। दूसरी मंजिल की छत की मुंडेर पर बैठा हुआ कौवा काँव-काँव कर रहा था। ऊपरी कमरे में बैठे हुए व्यक्ति आज के कार्य-क्रम के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हुए हँस रहे थे। कभी उनकी हँसी का ठहाका, कभी ताली की गड़गड़ाहट और कभी कोई विशिष्ट वाक्य—"वा मेरे मिट्टी के शेर"—और कभी किसी फिल्मी-गीत की टुकड़ी—"अकेली तोरे सङ्ग कहीं ना जाऊँ रे।" सुनाई पड़ जाती थी।

इन्द्रनाथ चुपचाप कुर्सी पर बैठा हुआ इस वातावरण और अपनी

मनस्थिति का समन्वय खोज रहा था। उसके दायें ओर रक्खे हुए 'बुक-शेल्फ' में दर्शन और राजनीति की कई पुस्तकें रक्खी हुई थीं। टेबिल पर उलटे पड़े हुए दर्पण को उसने उठा लिया। उसको देखते-देखते उसकी अँगुलियाँ अपने विशृङ्खलित केशों पर जा पड़ीं। फिर उसका ध्यान दाढ़ी के बढ़े हुए बालों पर आ गया। तब उसे खयाल हो आया कि आज रविवार है और आज तो उसे हजामत बनवा ही लेनी चाहिये। फिर घड़ी की टिक्-टिक् का स्वर उसने लक्ष किया और घड़ी की सुइयों की ओर दृष्टि डालते हुए वह सोचने लगा—'ओह, बीस मिनट मुझे इसी तरह बैठे हुए बीत गये।' फिर वह बायें ओर की दीवाल देखने लगा, जिस पर मोटे अक्षरों में लिखा हुआ था—This day will also pass away.

इसी क्षण अखबार वाला आ पहुँचा और अलोपी झट से उससे अखबार लेकर उसे दे गया। इन्द्रनाथ उसे देखने में तल्लीन हो गया। सरसरी दृष्टि से वह अभी उसे पूरी तरह देख भी न पाया था कि कपड़ों की गठरी लिये कामता धोबी आ पहुँचा, जिसे देखकर वह कुछ चिन्तित हो उठा। धोबी दो मिनट तक चुपचाप खड़ा रहा। जब उसने देखा, बाबूजी कोई उत्तर नहीं दे रहे हैं, तो वह साहस करके बोल उठा—"बाबूजी, हिसाब?"

इन्द्रनाथ ने उसकी बात सुनकर कुछ इस भाँति उत्तर दिया, जैसे उसका ध्यान किसी दूसरी ओर हो। उसने कहा—'हाँ, पैसे तो तुमको देने ही हैं।' फिर सिर खुजलाते हुए उसने कहा—पर असल बात यह है कि पैसे आये नहीं हैं। अब की बार जब तुम आओगे, तब तक आशा है, आ जायँगे। लेकिन अगर ज्यादा जरूरत हो, तो मैं किसी से लेकर भी दे सकता हूँ। बोलो, क्या कहते हो?' इसी समय अलोपी चाय ले आया और इन्द्रनाथ चाय की चुसकी लेता हुआ सोचने लगा—'जीवन कितना कड़ुवा है। साधारण आवश्यकताओं के लिए भी पैसों का इतना अभाव और तैयारी कर रहा हूँ 'डॉक्टरेट की; किन्तु इस कड़ुवाहट में

भी कम स्वाद नहीं है। और उसने लक्ष किया, अलोपी ने पानी में चाय मात्रा से कुछ अधिक डाल दी है। तब वह मन ही मन सोचने लगा—'संयोग की बात है कि चाय भी आज मुझे कटुता ही दे रही है।' और इस कटुता पर वह अनायास हँस दिया। और जैसे एक वाक्य सामने की दीवाल पर किसी ने लिख दिया हो—"कड़वी घूँट सदा जीवन को मधुकलश खोलने की अनुमति देती है।"

अलोपी चाय देकर कमरे से चला गया था। दो मिनट बाद उसने देखा, वह फिर आ रहा है। पर इस समय उसके हाथ में एक चिट है। चिट देता हुआ वह बोला—'इसका जवाब बाबू साहब ने अभी मँगाया है।'

इन्द्रनाथ ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह सोचने लगा—'हो न हो, गुप्त जी ने भेजी है। पिछले महीने मैंने उनसे पचीस रुपये उधार लिये थे। वादे पर दे नहीं पाया, इसलिए उन्होंने उसी का तकाजा भेजा है।'

अलोपी चिट देकर बाहर चला गया था। इन्द्रनाथ ने चिट देखी, तो उसे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरी आशंका निर्मूल निकली। वह सोचने लगा—'मैं इतना हीन, दुर्बल और दयनीय क्यों होता जा रहा हूँ ? मान लो, तकाजा ही होता, तो इसमें चिन्ता करने और घबड़ा जाने की क्या बात थी। यह तो एक साधारण बात है। क्या मिस्टर गुप्त इतना भी नहीं जानते कि जो आदमी किसी मित्र या परिचित व्यक्ति से कुछ उधार लेता है, वह उस रुपये को तब तक नहीं लौटाता, जब तक कम से कम उसका दूना रुपया उसके पास नहीं आ जाता।'

अलोपी इसी क्षण आकर खड़ा हो गया। इन्द्रनाथ ने कह दिया—'कह दो, अभी थोड़ी देर में आता हूँ।'

अलोपी चला गया। इन्द्रनाथ सोच-विचार में पड़ गया। वह मोती के यहाँ जायगा। क्यों जायगा ? मोती को यदि मुझसे मिलना था, तो स्वयं उसको मेरे पास आना चाहिए था। मेरी उसकी ऐसी कोई मित्रता भी नहीं है। फिर मैं क्यों उसके यहाँ जाऊँ ? लेकिन हो सकता है कि

उसने मेरी गरीबी की बात सुनी हो और इसलिए इस समय वह मेरी सहायता करना चाहता हो। आज के समाज में जिसके पास अधिक पैसा है, जो पूँजी-जीवी है, मर्यादा का प्रश्न उसके साथ अनिवार्य है। समाज के अन्दर उसने सीढ़ियाँ और वर्ग बना दिये हैं। इन्हीं सीढ़ियों तथा वर्गों के द्वारा पूँजी-जीवी समाज अपनी महानता और प्रभुता का सिक्का चलाया करता है। हो न हो, मेरा आमन्त्रण उन्हीं सिक्कों का एक प्रयोग हो और जब तक मैं स्वावलंबी नहीं बनता, तब तक मुझे भी इस समाज के साथ समझौता करके रहना पड़ेगा, उसकी मर्यादा के पालन और प्रतिष्ठा की वृद्धि में प्रकारान्तर से योग देना पड़ेगा। इसलिए मुझे मोती के यहाँ जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। फिर उसने देखा, कि घूमकर आने के कारण उसके पैरों और जूतों पर धूल जमी हुई है। किन्तु उसे ध्यान हो आया—उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है और तीन दिन से उसने कपड़े नहीं बदले हैं। अपनी इस अवस्था का ध्यान उसे इसलिए भी हो आया कि वह ऐसे व्यक्ति के यहाँ जा रहा है जो स्वच्छता, बनाव: और टीमटाम का दास है। उसने यह भी सोचा कि ऐसा न भी हो, तो भी स्वच्छता स्वयं एक गुण है और सौंदर्यवादी दृष्टि से तो वह सुरुचि का एक अंग है। आलस्य अथवा व्यस्तता का बहाना लेकर जो लोग मैले और गन्दे रहते हैं, वे समाज में गन्दगी फैलाने के अपराधी हैं और इसी समय पुनः उसे ध्यान आ गया कि धोबी का हिसाब भी चढ़ गया है। चटपट हजामत और स्नान से निपट कर उसने कपड़े बदले और वह मोती के यहाँ चल दिया।

मोती के कमरे के निकट पहुँचने पर इन्द्रनाथ ने देखा, चिक के भीतर पापोश के पास ही पायोनियर पड़ा हुआ है। सामने पलङ्ग है, जिसमें मसहरी तनी हुई है। 'सीलिंग फैन' मन्दगति से चल रहा है। उत्तर की ओर एक सोफासेट है, जो है तो अधिक दाम का, परन्तु जिसका आवरण कुछ पुराना है। चारों कोनों पर ऊँचे स्टूल्स हैं, जिनके ऊपर संगमरमर की नग्न नारी-मूर्तियाँ नृत्य की मुद्राएँ प्रदर्शित कर रही हैं।

पलँग के सिरहाने एक टी-टेबिल है, जिस पर अलमारी से सटा बुक-शेल्फ है। उसी के निकट शीशे का गिलास, सोडा की बोतल खाली रक्खी है। एक ओर सिगरेट का डब्बा दियासलाई और 'ऐश ट्रे' में कई अधजली सिगरेटों के टुकड़े पड़े हुए हैं। इसी समय उसकी दृष्टि एक ओर टँगे हुए कलैंडर पर जा पड़ी और उसने लक्ष किया कि तीन दिन से उसकी तारीख नहीं बदली गई है। जैसे आज की तारीख के साथ पिछली तारीखें भी अपनी-अपनी आत्मकथा बतलाने को हुलस रही हैं। इन्द्रनाथ का ध्यान इन सब वस्तुओं के साथ सोते हुए मोती की ओर आकृष्ट हुआ और वह सोचने लगा—अजीब बात है। जिसको बुलाया जाय सम्भव है, वह उस समय सो रहा हो, साधारणतया यही देखने में आता है। पर यहाँ बिलकुल इसका उल्टा है। यहाँ बुलाने वाला स्वयं सो रहा है। इसके बाद वह विचार में पड़ गया। सोचने लगा, ऐसी दशा में उसके लिए यहाँ बैठना कहाँ तक उचित है। संभव था कि वह उस समय वहाँ से चल देता, किन्तु उसकी दृष्टि अब मोती की रूप-रेखा के अवलोकन में लग गई।

मोती तकिये पर औंधे मुँह लेटा हुआ है। उसके अति दुर्बल शरीर पर एक उजली बनियाइन और पायजामा है। उसका एक हाथ पाटी पर पड़ा है, जिसकी हथेली के पृष्ठ भाग में लोमों की खेती काफी घनी है। उसका दायाँ पैर उसी ओर पाटी के निकट है और उसका घुटना एक मुलायम तकिये पर रक्खा हुआ है। उसके बायें पैर की ओर एक तौलिया पड़ी हुई है जिसकी तह की गहरी रेखाएँ तक अभी मिटी नहीं हैं।

इसी समय नौकर इन्द्रनाथ के पास आकर कहने लगा—'बाबू जी आपको अंदर बहू जी ने याद किया है।'

यह सुनकर इन्द्रनाथ आश्चर्य में पड़ गया। उसकी समझ में नहीं आया कि वे बहू जी हैं कौन, जिन्होंने उसे याद किया है।

तब तक पास के कमरे की चिक को उठाकर एक लड़की कहने लगी—"आइये, आइये। संकोच मत कीजिये। उनसे आप अपरिचित नहीं हैं।"

इन्द्रनाथ जब अन्दर की ओर चला, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह पुनः पुलिस के हाथ में पड़ गया है।

[२]

दो वर्ष पूर्व की बात है।

कालेज के एक उत्सव में अनायास इन्द्रनाथ का एक युवती से परिचय हो गया था। परिचय यों चाहे न होता, पर इन्द्रनाथ ने उस दिन एक ऐसा विलक्षण निबन्ध पढ़ा था, जिसने बहुतों के हृदय हिला दिये थे। क्योंकि निबन्ध का विषय था—आत्मघात का मनोवैज्ञानिक आधार।

इस निबन्ध में उसने उदाहरण दे-देकर यह सिद्ध किया था कि आत्मघात करने वाले सभी व्यक्ति नास्तिक, हिंसावादी और कायर होते हैं।

उत्सव के अन्त में जब सब लोग कालेज के बाहर आये तो, एक युवती ने आगे बढ़कर इन्द्रनाथ को बहुत-बहुत बधाइयाँ देते हुए कहा—आपके विचारों से चाहे मैं सहमत न होऊँ, पर यह तो मुझे स्वीकार ही करना पड़ेगा कि आपका दृष्टिकोण स्वस्थ है।

परन्तु इन्द्रनाथ की प्रकृति कुछ इस तरह की बन गई है कि जब लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, तब वह संकुचित हो जाता है। यहाँ तक कि अक्सर वह कोई उत्तर नहीं दे पाता।

पर वह युवती जिसका नाम था शोभा, इन्द्रनाथ के मुँह से कुछ शब्द सुनने की आशा करती थी।

और इन्द्रनाथ ने तुरन्त साइकिल ग्रहण करने को तत्पर होकर केवल इतना कह दिया था—"अच्छा, धन्यवाद।"

शोभा को उससे ऐसे शुष्क व्यवहार की आशा न थी। और यह बात तो उसे बहुत ही खल गई कि उस क्षण इन्द्रनाथ के मुख पर प्रसन्नता का भी कोई विशेष भाव अंकित नहीं था। जबकि शोभा उसके कालेज की छात्राओं में सबसे अधिक सुन्दर, बल्कि एक शब्द में 'मनोहर' थी।

इसका परिणाम यह हुआ कि उस दिन के बाद शोभा ने इन्द्रनाथ की प्रशंसा करने के बदले निन्दा-स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया।

नित्य तरह-तरह की खबरें इन्द्रनाथ के सम्बन्ध में उड़ने लगीं। यहाँ तक कि जिन बातों का कोई आधार नहीं था, वे भी इन्द्रनाथ के कान में पड़ने लगीं।

एक दिन उसने सुना कि वह किसी गड़रिये की सन्तान है। सुनकर उसे हँसी आ गई। क्योंकि वस्तुस्थिति यह थी कि वास्तव में उसके पिता कभी भेड़ों की ऊन सप्लाई का काम करते थे।

इसके बाद किसी ने उससे यह भी कह दिया कि आपकी एक विधवा बहिन हैं, जो रूप का व्यवसाय करती हैं और इस किंवदन्ती का आधार यह था कि वास्तव में उसके गाँव की एक विधवा लड़की अभिनय-क्षेत्र में पहुँच कर कीर्ति और लक्ष्मी दोनों के उपार्जन में आशा से अधिक सफल हो रही थी।

फिर एक चाय-पार्टी के अवसर पर एक लड़के ने उसके साथ चाय पीना इसलिए स्वीकार नहीं किया कि उसने कभी उन्हें 'मुसलिम कैन्टीन' में चाय पीते देख लिया था।

लेकिन इन बातों का इन्द्रनाथ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

उधर जब परीक्षाएँ समाप्त हो गईं, तब इन बातों के सम्बन्ध में यह नयी किंवदन्ती प्रचारित हुई कि पिछले दिनों इन्द्रनाथ के विषय में जो कुछ भी कहा गया, वह सब उनसे द्वेष रखनेवाले किसी व्यक्ति के हृदय का कलुषमात्र था। वास्तव में वह एक विचारशील, चरित्रवान और गम्भीर छात्र है।

इसका कारण यह था कि शोभा की परीक्षाओं में एक प्रश्न-पत्र डॉ० कौशल का था और इन्द्रनाथ डॉक्टर कौशल का एक प्रिय छात्र था और हवा तो कुछ इस प्रकार बँधी हुई थी कि उनके पास आने वाली उत्तर-पुस्तकों की जाँच इन्द्रनाथ ही किया करते हैं। यद्यपि ऐसी कोई बात न थी। लेकिन फिर हवा की तारीफ ही क्या, जो बड़े-बड़े वृक्षों की जड़ें तक न हिला दे।

इधर नये आये हुए प्रोफेसरों में डॉक्टर तिवारी बड़े लोकप्रिय थे। एक दिन इक्के पर जो इन्द्रनाथ का साथ हो गया तो वे बोल उठे—"अरे भई, सुना है किसी परचे में तुम्हारा भी हाथ है।"

इन्द्रनाथ चौंक पड़ा। बोला—"क्या मतलब ?"

तिवारी जी बोले—"चौंको मत। मुझे सब मालूम है। हालाँकि मुझसे कोई मतलब नहीं है। लेकिन एक बात मैं तुमसे कहना चाहता हूँ कि सरस्वती की अर्चना में व्यक्तिगत राग-द्वेष के हस्तक्षेप को मैं घोर पाप मानता हूँ।"

इन्द्रनाथ ने तपाक से उत्तर दिया—मगर इस तरह की आशंका का कोई आधार भी तो होना चाहिए।

प्रोफेसर तिवारी कुछ तीव्र स्वर में बोले—"आधार ? आधार की बात, अच्छा हो आप मुझसे न पूछकर उन्हीं से पूछें, जिनको अपदस्थ करने का आपने व्रत ले रक्खा है और वे हैं मिस शोभा मेहरोत्रा।"

इन्द्रनाथ के हृदय पर जैसे बाण लग गया हो। पर उसने केवल इतना कहा—"आप अभी बहुत बड़े भ्रम में हैं प्रोफेसर तिवारी। दुनियाँ में जो और जैसी हवाएँ प्रायः उड़ा करती हैं, वे सदा सत्य ही नहीं होतीं और किसी नारी के अत्यधिक सुन्दर होने का यह अर्थ कभी नहीं होता कि वह सीता है।"

इस पर तिवारी जी ने केवल इतना कहा था—और दुर्भाग्य से मैं उन व्यक्तियों में हूँ, जो सुन्दरता को न कलुष मानता हूँ, न अन्धकार। मैं नैतिक मानों से उसे सर्वथा परे समझता हूँ।

"डॉ० तिवारी विश्वविद्यालय में लेक्चरर के पद पर हैं और केवल पद-मर्यादा में ही नहीं, वय में भी मुझसे कहीं बड़े हैं।" यह अनुभव करते हुए भी इन्द्रनाथ के मुँह से निकल गया—"क्षमा कीजियेगा। मैं ऐसी स्थिति में नहीं हूँ कि आपकी हर बात का उत्तर देने की धृष्टता करूँ। लेकिन किसी के मानने न मानने से कुछ नहीं होता। विज्ञान के इस मत को मानकर कि मनुष्य की उत्पत्ति कीड़े से होती है, जैसे मनुष्य कीड़ा नहीं हो सकता, वैसे ही मनुष्य और उसकी रुचि-सम्बन्धी आवश्यकताओं को नैतिक धरातल से विलग करके आप उसे सर्वथा बौद्धिक ही बना लेंगे, इसमें सन्देह है। इसी बात पर रुष्ट होकर आप कहीं यह न कह बैठें कि अभी आप बच्चे हैं, थोड़ा और पढ़िये, तब बात कीजियेगा। इस भय से इतना कहना ही यथेष्ट समझता हूँ। अन्यथा मेरा तो सदा से यही विश्वास रहा है कि शरीर और मन का निखिल सौंदर्य्य उच्च नैतिक स्तरों से निर्झरिणी की भाँति निस्सृत होकर, एकनिष्ठ प्रेम की पवित्र गंगा बनता है।

इतने में ही जीरो रोड का शिवचरण लालरोड वाला चौराहा आ गया और संयोग से इसी समय तिवारी जी इक्के से उतर पड़े। इन्द्रनाथ ने नमस्कार किया। तब डॉक्टर तिवारी बोले—"आज तुम्हारी इस विचारधारा को सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अच्छा, इस विषय फिर कभी बातचीत होगी। कभी समय निकाल कर घड़ी-दो-घड़ी को मेरे यहाँ भी आ जाया करो।"

"अवश्य-अवश्य' हँसते-हँसते इन्द्रनाथ ने कह दिया और डॉक्टर तिवारी चल दिये।

[२]

जब किसी प्रकार शोभा इन्द्रनाथ को अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी, तो उसकी उलझन और भी बढ़ गयी। अन्ततोगत्वा उसने यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि वह इन्द्रनाथ की निकटता अब जबरदस्ती प्राप्त करेगी।

संयोग की बात कि प्रदर्शिनी में एक दिन इन्द्रनाथ उसे दिखाई पड़ गया। पर उस समय शोभा के साथ उसकी कई सखियाँ भी थीं। ऐसी अवस्था में किस प्रकार वह इन्द्रनाथ को अपने पास बुलाये, अथवा कैसे उससे वार्तालाप की संयोजन करे। वह इस विचार में पड़ गई। परन्तु फिर यह तै हुआ कि कुछ भी हो, सदल-बल उनके निकट तो पहुँचा ही जाय। तब तक सम्भव है, कोई मार्ग निकल ही आये।

इतने में पुनः इन्द्रनाथ खद्दर भण्डार की दूकान के बाहर खड़ा होकर एक स्थानीय नेताजी से बात करता हुआ दिखाई पड़ा। अतएव उसी क्षण शोभा साड़ी देखने के बहाने शालिनी, मृणालिनी, वकुल और शेफाली को साथ लेकर उधर जा पहुँची।

उस समय इन्द्रनाथ कुछ उत्तेजना के साथ उन नेताजी से कह रहा था—"क्षमा कीजियेगा। यह काम मुझसे न हो सकेगा। मैं ऐसे व्यक्ति को छुड़ाने की सिफारिश न कर सकूँगा, जो वास्तव में अपराधी है। चाहे वह आपका बहनोई हो या मेरा साला।"

इतने में ही कोमल करों के बीच में फँसे नमस्ते के साथ शोभा और उसकी 'कम्पनी' ने उसे घेर लिया।

शालिनी मुसकान की चाशनी के साथ बोली—"आप तो आजकल अमा-निशा के चन्द्र हो रहे हैं।"

वकुल ने कोट का बटन लगाते-लगाते कह दिया—"कोई नई बात नहीं है। सभी महापुरुषों की यही धज है।"

और शेफाली सुनहले चश्मे के ब्रिज, को तर्जनी के स्पर्श से सम्हालती-सम्हालती बोल उठी—"वह, जो वह आपका निबन्ध हम लोगों ने गत-वर्ष सुना था, "आत्मघात का मनोवैज्ञानिक पहलू" मैं उसे अब तक भूल नहीं पाई। क्या इधर आपने और कुछ लिखा है? मेरा मतलब यह है कि......।"

बात अधूरी रह गई, जैसे कोई वस्तु ताड़ से गिरती-गिरती खजूर में

अटक गई हो। उठे—"अच्छा, इस विषय में मैं आपसे फिर बात करूँगा। नौ बजे सबेरे तक तो आप...।"

"पर मैं इस विषय में अब और कोई बात न कर सकूँगा। इन्द्रनाथ ने कुछ इस ढंग से कहा कि शोभा उसके तेजस्वी रूप को निहारती रह गई।

स्थानीय नेता जी सकुशल चले गये। उसी समय इन्द्रनाथ ने जो इस तितली-वृन्द की ओर सम्यक् दृष्टिपात किया तो वह यकायक कुछ घबरा-सा गया। धीरे-धीरे जैसे एक-एक शब्द को सोच-सोच कर कहता हुआ वह बोला—कहिए, मेरे योग्य कोई सेवा ?"

तब बड़ी कठिनाई से, जैसे अपना सर्वस्व समेटकर एक भेंट करती हुई शोभा बोली—हम लोग आपकी सेवा तो भला क्या चाहेंगी। लेकिन...लेकिन क्या यह सम्भव है कि आप अपना थोड़ा-सा अमूल्य समय हमको भी देने की कृपा करें।"

धृष्ट शेफाली से बिना बोले न रहा गया। बोली मेरी सखी का मन है कि कल आप मेरे यहाँ भोजन करें।

मृणालिनी वय में सब से बड़ी थी। शाल को ऊपर से थोड़ा और समेटती-समेटती, शीत के प्रकोप को जैसे मसल-मसल कर शान्त करती हुई काँपने लगी—"अर्थात् कल आप शेफाली के यहाँ नहीं, बल्कि शोभा-रानी के यहाँ निमंत्रण स्वीकार करें।"

इन्द्रनाथ सोच-विचार में पड़ गया और पेड़ में लगी चपला की रंगीन बत्तियों की ओर देखता-देखता बोला—"इस तरह के निमंत्रण मुझे बड़े प्यारे लगते हैं। लेकिन आजकल समय का इतना अभाव हो गया है कि यदि कहीं जाना भी चाहूँ, तो जा नहीं पाता।"

'यहाँ प्रश्न यह उठता है कि' इस बार शोभा को ही साहस के साथ उत्तर देना पड़ा—"क्या वही लोग विश्व की सबसे अधिक सेवा कर पाते हैं, जो साथियों, सेवकों, भक्तों और अनुचरों की प्रत्येक प्रार्थना और इच्छा पर पदाघात करके आगे बढ़ते हैं।"

[४]

काल के वज्र-कठोर पग यद्यपि आगे बढ़ आये हैं। किन्तु आज भी वह दिन, वे घड़ियाँ, वे पल, वह समाज, वह नियन्त्रण—वे अनूठी मीठी-खट्टी बातें, वे मादक मोहक मुद्राएँ इन्द्रनाथ को भूली नहीं हैं।

शोभा बड़ी देर तक मौन रही थी। प्रयत्न करने पर भी वह कोई हास्य-व्यंग्य इन्द्रनाथ से कर नहीं पाई थी। बार-बार कोई उसके कानों में कह जाता था—यह दिन फिर नहीं लौटेगा। ये क्षण इस आँगन में फिर कभी ऐसे मूर्तिमान न होंगे। ऐसा सात्विक, तपोनिष्ठ राष्ट्र-कर्मी फिर कभी मेरी हर बात पर ध्यान देकर, अपने मत और विश्वास के प्रकार में, अपना ऐसा मनोयोग प्रदान न करेगा।

पर भोजनोपरान्त शोभा बोली थी। उसने कहा था—

"आप तो शायद इस बात पर विश्वास नहीं करते कि कोई एक व्यक्ति किसी के लिए कुछ त्याग करे।" क्योंकि आप शायद यह सोचते हैं कि मनुष्य अपने आपको प्रसन्न करने के लिए ही त्याग करता है। त्याग उसकी इच्छा, बल्कि उसके गुरुत्व का एक विन्दु होता है।

इस पर 'बेशक बेशक' उसका स्पष्ट उत्तर था।

फिर शोभा ने डरते-डरते पूछा था—कोई आपको यदि अकारण कष्ट ही दे, अथवा जान-बूझकर अपदस्थ करने की चेष्टा ही क्यों न करे—फिर भी आप अपने कर्तव्य से विलग नहीं होते। किन्तु क्या कभी आपने यह भी सोचा है कि अपमान भी लोग उसी का करते हैं, जिससे उनको कोई शिकायत होती है।"

"मानता हूँ। लेकिन इसी स्थल पर एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यक है शोभादेवी" कहते-कहते उसने कुछ ऐसे ढंग से बोलना प्रारम्भ किया था जिसमें शिष्टाचार अधिक था, आत्मीयता नहीं के बराबर—"कि संसार में शिकायतों का अन्त नहीं है। किसी बात पर अगर आपके मन का किसी के व्यक्तित्व के साथ मेल नहीं खाता, तो आप क्या करेंगी? दो ही मार्ग हैं कि या तो आप अपने मन में झुकाव

की लोच उत्पन्न करें, या विवेक की आँखों से देखें कि मन आपका जहाँ उलझा है, वहाँ सुलझाव की सीमाओं में आपको समेटने की शक्ति और सम्भावना कितनी है।'

और बस, उसका इतना कहना था कि शोभा मूर्छित हो गई थी।

[५]

और शोभा की यह मूर्छा इन्द्रनाथ के जेल-जीवन की एक ऐसी समस्या बन गयी, जिसका हल वह किसी प्रकार करना तो चाहता था, लेकिन कर नहीं सकता था। वह सुन्दर नारी के प्रति आकृष्ट हो नहीं सकता था। उसे कुछ ऐसा प्रतीत होता था, जैसे बौद्धिक तत्व का अतीव ह्रास ही ऐसी नारी की निर्माण-भूमि हुआ करती है। कभी-कभी उसे शरीर के गठन के मोहक रूपों में दुर्गन्ध का सन्देह होता था। कदाचित् इसी कारण उसे सुन्दरता के प्रति मोह के स्थान पर कुछ भय-सा अपने भीतर विष की भाँति फैलता प्रतीत होता था। एक आशंका-सी यदा-कदा उसके मानस में उठ-उठ कर भयानक झंझावात बन जाती थी और वह सोचने लगता था कि ऐसी नारी तो मेरे जीवन के आदर्श को ही खा जायगी।

"नहीं-नहीं-नहीं ! ऐसा कभी नहीं होगा।" कहता कहता वह कभी-कभी गंभीर निद्रामग्न अवस्था में चौंक-चौंक उठता था।

और उसके जीवन में नियति का यह कितना कठोर व्यंग्य था कि जो लोग जेल-जीवन में उससे भेंट करने के लिए आते, उनमें से कुछ ऐसे महापुरुष भी होते थे, जो शोभा के दिन-रात की घड़ी-घड़ी, पल-पल की दिन-चर्य्या तक उसे बतलाने से न चूकते।

एक दिन एक साहब ने उन्हें बतलाया कि अब तो उसकी अवस्था बहुत चिन्ताजनक हो गयी है। उसे प्रायः दिन भर में पाँच-सात बार मूर्छा आती रहती है।

पर इस स्थिति का एक दूसरा पहलू भी था। वह यह कि, ऐसी नाना

प्रकार की किंवदन्तियाँ शोभा को लेकर पहले भी फैलायी जाती थीं और ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं थी, जो इस घिनौने कार्य में रस लेते थे। निदान इन्द्रनाथ शोभा के सम्बन्ध में जितना कम—बल्कि नहीं—सोचना चाहता था, उतना ही घूम फिर कर फिर उसे अधिक सोचना पड़ता था। और यह सब बातें मिलकर इन्द्रनाथ के लिए एक ग्रन्थि बन गयी थीं।

फिर कुछ इस ढँग के समाचार भी उसे दिये गये कि शोभा की मूर्छा-ऊर्छा तो सब बनावटी थी। वह अब यथेष्ट स्वस्थ है और किसी अति सम्पन्न ग्रेजुएट के साथ उसका विवाह तै हो रहा है।

तब इन्द्रनाथ ऐसी स्थिति में आ गया कि वह अपने को निश्चिन्त समझने लगा। बल्कि कभी-कभी वह जैसे अपने आप से ही कहने लगता—बस, अब ठीक है। "ना कोई मेरा—ना मैं किसी का?" वाह! क्या कहने हैं। यही तो वह चाहता था। अपने हिसाब से उस समय उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं थी।

किन्तु एक बात अब भी वह प्रायः सोचने लगता वह यह कि उस दिन मेरे अन्तिम उत्तर पर शोभा को वह जो मूर्छा आ गयी थी, उसका आधार?—उसका कारण?—उसकी पृष्ठभूमि?

फिर वह अपने आप को ही समझाने लगता—वह सब कुछ नहीं था। वह एक प्रयोग था, एक भ्रम था, प्रमाद था—विकार, दुर्बलता। एक काला-काला धब्बा जो उसके मानस-पट पर अंकित हो गया था, अब धुल गया है, मिट गया है। कहीं कुछ नहीं है—कहीं कुछ नहीं है।

और जब वह जेल से मुक्त हुआ, तब उसकी मनःस्थिति एक प्रकार से स्वच्छ थी।

[६]

हाँ, तो उस समय धीरे-धीरे पग आगे बढ़ाता हुआ इन्द्रनाथ मोती के अन्तःपुर में प्रवेश कर रहा था। आगे-आगे एक लड़की थी, जिसकी

अवस्था तेरह-चौदह वर्ष के लगभग थी और रूप-रेखा की दृष्टि से कम शोभन नहीं थी। लेकिन इन्द्रनाथ ने उसकी ओर ध्यान से देखा भी नहीं। जैसे कुछ इस प्रकार का भाव हो कि 'होगी कोई, अपने से क्या बहस।' लेकिन इन्द्रनाथ के मन में उस समय यह प्रश्न अवश्य उठ रहा था कि संसार में ऐसी कौन गृहिणी है, जिसको मेरी आवश्यकता है।

तब उसके मानस पर कुछ अस्पष्ट से चित्र बनते और बदल जाते थे। एक के स्थान पर दूसरा, फिर उसकी मुद्रा पर तीसरा। कभी-कभी दोनों एक साथ। उसे यह भी स्मरण हो आया कि किसी सुदूर-वासी उस दिन की प्रदर्शिनी में एक कनकछुरी-सी कामनी ने उससे कहा था—"आपके उस आत्मघात वाले निबन्ध की बात मैं अभी तक भूल नहीं पायी।" और किसी अनङ्गलता सी-प्रमदा ने यह भी कहा था—"सभी महापुरुषों की एक-सी ही धज होती है।" और निमंत्रण किसी ने दिया था। फिर उसकी व्याख्या किसी ने की थी। वे सब भी खूब थीं। फिर निमंत्रण वाले दिन उन सबका परिचय भी कराया गया था। उनके नाम भी मुझे कम पसन्द नहीं आये थे। लेकिन ये सब तो तिनके हैं, मानस-गगन पर, पवन के भाव से दोलन करते रहना इनकी प्रकृति है।

पहले आया एक कमरा, जो खाली पड़ा था। एक साधारण कुरसी थी और एक तखत भी वहाँ पड़ा था। फिर आयीं सीढ़ियाँ। "हाँ, सीढ़ियाँ तो आदमी को उतरनी ही पड़ती हैं। लेकिन मैं सीढ़ियाँ उतरने के लिए नहीं बनाया गया; कई सीढ़ियाँ मैंने ऊपर वाली पार की हैं। कुछ बाकी रह गयी हैं। उन्हें भी......।

"कोई अस्वस्थ है क्या इस मकान में ?" कहीं से कोई स्वर ही नहीं आ रहा है। न बाल-सुलभ किलकारियाँ, न उनकी भाग-दौड़। तो क्या यह मकान सूना पड़ा है ?

कुछ पग और आगे।

अच्छा, तो इस कमरे में कोई रमणी बैठी हैं। और यही शायद अस्वस्थ हैं।

"आइये, नमस्ते।"

"ओ शोभा तुम! लेकिन...लेकिन तुम्हारी सुमन दुर्लभ शोभा कहाँ चली गयी! चिबुक पर तिल न होता तो मैं तो पहचान भी न सकता।"

"हाँ, पहचानने की बात भी तो नहीं है।"

"अरे! आप रो रही हैं। छिः यह भी कैसी दुर्बलता है। बुरी बात है। रोने के लिए आदमी नहीं पैदा होता। विज्ञान ने यह भी सम्भव कर दिया है कि बच्चे इतनी सुविधा और सरलता से जन्म लें कि उन्हें जन्म के क्षण बिल्कुल न रोना पड़े। फिर आप तो पढ़ी-लिखी "कल्चर्ड" सुगृहिणी हैं।"

भावनाएँ जो भरी ही रही हैं, इच्छाएँ, जिन्होंने भाषा और शब्दावली नहीं पायी, वे रुदन बन गयी हैं। जो कुछ कहकर बतलाया जाता है, वह सब दुर्लभ काया से आप ही आप व्यक्त हो गया है। यहाँ तक कि जो अव्यक्त है वह भी आज व्यक्त हो रहा है।

"देखिये, यदि आप और अधिक रोयेंगी, तो मैं इसी क्षण यहाँ से चला जाऊँगा। मैं तो ऐसे संसार की कल्पना करने वाला व्यक्ति हूँ, जिसमें रोना बचपन समझा जाता है।"

थोड़ी देर खूब खुलकर रो चुकने के पश्चात् शोभा ने यकायक आप ही आप आँसू पोंछ डाले। रोते क्षण रिंगलेस चश्मा उसने उतार कर रख लिया था अब फिर धारण कर लिया। फिर ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह कुछ कहेगी।

इन्द्रनाथ ने कभी कल्पना भी न की थी कि शोभा उसके लिए इतने आँसू गिरा सकती है। आज उसे यह स्पष्ट जान पड़ा कि वास्तव में जीवन की इस दिशा से वह अभी नितान्त अनभिज्ञ है।

इतने में शोभा बोल उठी—"न मिलो तुम मुझको निर्मोही। मैं इस जीवन का त्याग ऐसे ढंग से करूँगी कि तुम जन्म-जन्मान्तर तक शान्ति की नींद किसी तरह ले ही न सको।"

परन्तु इतना कह चुकने के बाद वह पुनः फूट-फूट कर रो पड़ी, और उस रुदन-भरी करुणा-विगलित वाणी में उसने फिर यह भी कह दिया—"नहीं नहीं, मैं ऐसा कोई काम न करूँगी। मैं तुम्हारी शान्ति की बाधा, मन की चिन्ता, देह की ज्वाला कभी न बनूँगी। क्या मैं कभी यह भूल सकती हूँ कि मेरे लाख बुराई करने पर भी तुमने मुझे कभी कोई कटु वचन नहीं कहा? अच्छा अब"...और वह फिर सिसकियाँ भरने लगी।

इन्द्रनाथ इतना ही कह पाया था कि पीछे से तीव्र स्वर और लड़खड़ाती हुई भाषा में गिरता-पड़ता सहारा ले लेकर उठता मोती कहने लगा—यह, यह र् र् रोती हो, तो—इसको—यानी शोभा को—यानी मेरी विवाहिता बीबी को आ-आ-आप खूब रो ही लेने दीजिये मिस्टर इन्द्रनाथ! समझते हैं कि नहीं? यह जब से म् म् मेरे यहाँ आयी, यह मन से ही र् र् रोती रही है। आज इसको खूब आँ-आँ आँसू गिरा ल् ल् लेने दीजिये। और देखिये, अब आप ही इसको सम्हालिये-रखिये, च् चाहे ले ही जाइये अपने साथ, किसी तरह इसके प्राण बचाइये। चाहे मुझको न बचाइये। और हा हा हा हा तमाशा यह है कि अब भी यह आपकी ही है।—ईश्वर—आप तो ईश्वर को मानते हैं न? उसको स् सब मालूम है—सब मा-मालूम है।"

और इतना कहते-कहते मोती कुछ इस तरह धड़ाम से वहीं गिर पड़ा कि फिर नहीं उठा।

———

दो बहनें

उसकी आँखों में सदा शरारत भरी रहती। मुसकराते हुए वह उन्हें ऐसे नशीले ढंग से नचा देती कि बस, दिल काबू से बाहर हो जाता। नगीना की यही विशेषता थी और इसीलिये बाबू लालता प्रसाद घर-द्वार छोड़कर उसी के यहाँ पड़े रहते। नगीना के लिए उन्होंने लबे-सड़क एक आलीशान मकान बनवा दिया था। यौवन की मदिरा और फिर जब वह चढ़ाव पर हो तो कहना ही क्या? रात को राग-रंग, दिन को सोना और सैर-सपाटा। "घर से अम्मा ने बुलाया है—" कोई जाकर कहता तो उसे उत्तर मिलता—"जा कह दे, बाबू अभी सोते हैं। जब कभी जागेंगे तब उनसे कह दिया जायगा।" जब कभी मुख्तार साहब ने बुलाया, तो बाबू साहब अपने सिर के बालों को पीछे की ओर फेंकते हुए बोलेंगे—"लाला जी खुद यहीं क्यों नहीं चले आते?" गरज यह कि लालता बाबू का धीरे-धीरे घर जाना-आना भी बन्द हो गया था।

पहले नगीना जब कभी लालता बाबू को रोकती, तो कहती—"क्या करोगे वहाँ जाकर, चलो आज जरा सिनेमा देख आयें।"

लालता बाबू न मानते, तो वह खुद रास्ता रोककर खड़ी हो जाती, कहती—"अच्छा जाओ, देखें कैसे जाते हो?" और साथ ही साथ नौकर से दरवाजे का ताला बन्द करवा देती। लालता बाबू विवश हो जाते। कहते—"अच्छा चलो। हटाओ चरखा? कौन जाय? क्या जाने अम्मा से क्या से क्या सुनना पड़े?"

सावन का महीना था। दोनों दीवाने सैर-सपाटे को मोटर पर जा रहे थे। लालता बाबू शहर के निकट ही अपने गाँव में दाखिल हो

गये। यहाँ भी उनका एक मकान था और उसके पास ही एक बगिया। नगीना यहाँ लालता बाबू के साथ झूला झूलने आयी थी। पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी थी और जब शाम हो ही गयी थी, तब रात होते देर क्या लगती? इधर नगीना जमीन पर परी के रूप में इठला रही थी, उधर आसमान में बादल-परियों ने भी उपद्रव मचाने की ठान ली थी। एक-दो बूँदें पड़ने लगी थीं। नगीना बोली—"वाह, कितनी अच्छी दुनियाँ है?"

लालता—"तुम्हारी कृपा से।"

जबान कुतरती हुई नगीना बोली—"ऐसा न कहो, यह सब तो खुदा की कुदरत है।"

लज्जा को मुस्कराहट में छिपाते हुए लालता बाबू बोले—"उसका तो सब है ही, लेकिन (नगीना की बाँह में चुटकी काटते हुए) तुम्हारे इस सौन्दर्य ने भी मेरी दुनिया को क्या कम हरा-भरा बनाया है?"

नगीना का रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह बोली—"चलो हटो, हर वक्त की तारीफ मुझे पसन्द नहीं।"

लालता बाबू वार्ता-विनोद में बड़े दक्ष थे। जरा नाक सिकोड़ते हुए बोले—"अच्छा तो अब मुझसे भी बनने की कोशिश की जायगी?"

नगीना हँसने लगी। बोली—"जरा उधर देखिये, पानी आ रहा है। ये काली-काली घटाएँ उड़ती हुई कैसी भली मालूम होती हैं।"

विषयान्तर की इस शैली पर रीझते हुए लालता बाबू बोल उठे—"लेकिन वैसी भली नहीं, जैसी तुम्हारी यह चपलता।"

लालता ने यह कहते हुए फिर उसकी बाँह को छू दिया। नगीना दामिनी की तरह दमक उठी। बोली—"देखो, इस वक्त शैतानी न करो।"

लालता—"अच्छा तो चलो झूला झूलने।"

नगीना—"मैं न जाऊँगी।"

लालता—"अब रंगबाजी न दिखाओ। शहर से इसीलिए ले आयी हो, और अब अवसर पर टालती हो।"

यौवन वह मदिरा है, जिसकी एक बोतल पीकर आदमी को संतोष नहीं होता। यौवन सरिता के प्रवाह की वह आँधी है, जिस पर वह छा गयी, उसे ले डूबी।

नगीना और लालता बाबू झूला झूल रहे थे। नगीना कहती थी—"भई वाह! आप से तो जरा भी पैंग नहीं बढ़ती? अरे कुछ तो और बढ़ाइये!"

महल खड़ा करने में देर लगती है, पर उसके गिरने में जरा भी देर नहीं लगती। मनुष्य बनने में वर्ष के वर्ष कभी इठलाते, कभी छलाँगें भरते या रोते-झींकते हुए व्यतीत करने पड़ते हैं, पर वही मनुष्य जब पशु बनता है, तब इतनी तीव्र गति से उसका पतन होता है कि वह पानी के प्रकृत गुण पर भी पानी फेर देता है।

लालता बाबू का भी यही हाल हुआ। जहाँ पहले दस-दस आदमी उनके यहाँ काम करते थे, वहाँ अब गिने-चुने दो-चार नौकर रखना कठिन हो रहा था।

मुख्तार साहब ने कई बार उनको समझाने की चेष्टा की, पर जब वह व्यर्थ हो गयी तो लाचार होकर उन्हें भी घर बैठ रहना पड़ा।

अब भोग-विलास, सुरा-पान, अनियमितता और स्वेच्छाचार ने लालता बाबू के शरीर को एकदम शिथिल बना रखा था। नगीना जब खाने को पूछती, तब खाना खा लेते और पान-इलायची देती, तब उसे भी ग्रहण करके थोड़ी देर के लिए प्रसन्न देख पड़ने लगते।

नगीना प्रायः कहा करती—"जब आपकी तबियत इस कदर खराब हो रही है, तब आप घर ही पर क्यों नहीं रहते?"

लालता बाबू कभी सुनी-अनसुनी कर जाते, कभी कहते—"घर!

अब घर जाकर क्या करूँगा नगीना ? इसी तरह किसी दिन सदा के लिये चल दूँगा।"

नगीना में और चाहे जो कुछ हो, पर उसमें अभी तक हृदय नाम की चीज किसी तरह बनी हुई थी। लालता का ऐसा उत्तर उसे एकदम तिलमिला देता। फिर वह कुछ न कहती। कहती भी तो इस प्रकार, जैसे—"आप तो बड़ी जल्दी नाखुश हो उठते हैं। इन्सान कोई ईंट-पत्थर नहीं होता। उसके बदन में 'दिल' नाम की भी एक चीज होती है। मैं कहती हूँ, और आप घर हो आया करेंगे, तो और कुछ न होगा तो आपका दिल तो बहलेगा। बच्चे आकर आप से लिपट जायँगे, आपके ऊपर चढ़ेंगे, आपके मुँह पर हाथ फेरेंगे—कोई कान में ऊँगली डालेगा, कोई मूँछें खींचेगा। उनकी ये हरकतें आपके दिल को कितनी तसल्ली देंगी !"

लालता बाबू नगीना के इस तरह के उत्तरों से निरुत्तर हो जाते। एक ठण्डी साँस खींचते और रह जाते।

लालता के घर में उनके दो लड़के थे, एक छोटी लड़की। बड़ा लड़का सातवें दरजे में पढ़ता था, वह ११-१२ वर्ष का था। दूसरा जो उससे छोटा था, अभी पाँच वर्ष का था। वह घर पर अपनी अम्मा से अक्षर सीख रहा था। छोटी लड़की अभी दो-ढाई वर्ष की ही थी।

होली का त्योहार था। लालता की गृहिणी रमा ने अपने बड़े लड़के रामप्यारे को बुलाकर कहा—"भैया, अभी तुझे अपने बाबू के पास जाना होगा।"

"क्या कहूँगा उनसे, अम्मा ?" रामप्यारे ने पूछा।

"कहना तुम्हें बड़ी अम्मा ने बुलाया है। उनकी तबियत ठीक नहीं है और बहुत जरूरी काम है; बहुत ही जरूरी।"

रामप्यारे ने उत्तर में कहा—"अच्छा।" और वह चल दिया। कहाँ किस मकान में उसके बाबू रहते हैं यह सब वह जानता था!

थोड़ी देर में रामप्यारे नगीना के सामने था।

नगीना ने उसे दूर से ही देखकर कहा—"आ रे प्यारे। सब लोग अच्छी तरह से तो हैं ?"

प्यारे बोला—"हाँ सब अच्छी तरह हैं। बाबू को बड़ी अम्मा ने बुलाया है। कई दिनों से उन्हें ज्वर आ रहा है।"

"ज्वर आ रहा है ?" नगीना ने आश्चर्य के साथ, एकदम गम्भीर होकर पूछा—"कितने दिनों से आरहा है ?"

"यही ३-४ दिन हुए।"

"और भी कुछ कहती थीं, बड़ी अम्मा ?"

"और तो कुछ नहीं कहती थीं।"

"अच्छा, आज क्या खाने को बन रहा है घर में ? हाँ, तूने तो अभी कुछ खाया न होगा। सबेरे से ही ?"

"अभी तक तो कुछ नहीं बन रहा है। बाबू चलेंगे, तभी बनेगा।"

"अच्छा, तो क्या अम्मा ने ऐसा कहा है ?"

"कहा तो नहीं है, पर मैं कहता हूँ। मैं जब यहाँ चलने लगा था, तब अम्मा की आँखें भरी हुई थीं। मैं अगर कुछ देर और ठहर जाता, तो शायद मेरे सामने ही वे रो पड़तीं।

नगीना ने उसी समय प्यारे के लिये मिठाई मँगवाने का चुपचाप आदेश देकर कहा—"लेकिन वे तो अब मेरे यहाँ नहीं रहते। करीब-करीब एक महीना हुआ अब वे चौक में कोकिला के यहाँ रहने लगे हैं।"

प्यारे यह सुनकर एकदम हतप्रभ हो गया। महीनों से उसने अपने बाबू को नहीं देखा था। आज बहुत दिनों के बाद वह उन्हें देखने को अत्यन्त उल्लसित था। वह उनके मिलने की आशा में अनेक आह्लादमयी कल्पनाओं के चित्र बना रहा था। एकाएक उसका स्वप्न टूट गया। उसने कहा—"तो अब मैं वहीं जाऊँगा, चाची।"

नगीना ने कहा—"अच्छा, मगर पहले जरा मिठाई तो खाये जा। फिर आना।"

"ना, चाची। मिठाई-विठाई इस समय में कुछ नहीं खाऊँगा।" प्यारे ने कहा।

नगीना बोली—"सो न होगा। बिना मिठाई खिलाये मैं तुझे जाने न दूँगी। तू अब बड़ा हो गया है। तुझे क्या पता कि इन्हीं हाथों से अपनी इसी गोद में मैंने तुझे कितना खिलाया है। कुछ ख्याल है, कब से तू मुझे चाची कहता आरहा है?"

प्यारे चुप रह गया। इस मामले में वह अब और बहस नहीं करना चाहता था। तब तक मिठाई भी उसके सामने एक तश्तरी में आ गयी।

किसी तरह मिठाई के तीन-चार टुकड़े मुँह में डालकर उसने पानी पिया, रूमाल जेब से निकाल कर मुँह पोंछा, और उठकर "अच्छा, अब चलता हूँ," कहकर चल दिया। थोड़ी देर में वह चौक में खड़ा था।

प्यारे का गोरा-गोरा खूबसूरत मुखड़ा और टोपी की मर्यादा भङ्ग करते हुये छल्लेदार बाल देखकर सभी उसकी ओर एक बार आकृष्ट हो उठते। लेकिन और किसी के पास न जाकर उसने एक तमोली से पूछा—"यहाँ कहीं कोकिला बाई रहती हैं?"

तमोली ग्यारह-बारह वर्ष के छोकरे के मुँह से कोकिला का नाम सुनकर शंकित हो उठा। बोला—"क्या करोगे उसका पता पूछकर बाबू?"

प्यारे—"एक काम है।"

तमोली—"भला कुछ सुन भी सकता हूँ?"

प्यारे—"नहीं दादा, वह सब मुझसे मत पूछो। बस, यही बतला दो, उसका घर कौन-सा है?"

तमोली—"बिजली का वह दूसरा खम्भा जो देख पड़ रहा है, बस, उसी के ऊपर रहती है। लेकिन जरा मेरी बात तो सुने जाओ।"

लेकिन तब तक रामप्यारे आगे बढ़ गया। ठीक उसी मकान के निकट पहुँच कर नीचे के सुनार से उसने फिर पूछा—"इसी में ऊपर कोकिला बाई रहती है?"

सुनार ने कहा—हाँ कल तक तो थी। आज सबेरे ही बनारस चली गयी है।"

प्यारे—"उसके साथ और कौन-कौन गया है?"

सुनार ने कहा—"यह सब मैं क्या जानूँ बाबू। रोज ही अनेक आते-जाते रहते हैं। जानते तो हो, वेश्या का घर ठहरा। इतना ही जानता हूँ, आज से यह मकान किराये के लिए खाली है।"

जब तक लालता बाबू इलाहाबाद में थे, उन्हें कभी-कभी अपने घर की कुछ खबर भी मिल जाती थी। पर अब बनारस आकर वे उस घर को भी भूल रहे थे, जिसकी बदौलत उनकी जीवन-सरिता प्रवाहित होती थी। पर इलाहाबाद में उनको कर्ज देने वाले बहुतेरे लोग थे, बनारस में कौन बैठा था वादे पर वादे करते—"अब घर जाकर ले आता हूँ, अब इन्तजाम करता हूँ।" एक दिन कोकिला ने कहा—"मुझे आज ही दो सौ रुपये चाहिये।"

ला०—"यहाँ रुपये कहाँ से आये?"

को०—"मैं यह कुछ नहीं जानती।"

ला०—"अच्छा मैं इन्तजाम करता हूँ, दो-एक दिन में रुपये मिल जायँगे।"

को०—"अब मैं दो-एक दिन भी ठहर नहीं सकती। दो-एक दिन टलते-टलते तो आज दो महीने हो रहे हैं। आपने क्या वादा किया था, याद है?"

ला०—"याद क्यों नहीं है, लेकिन······"

को०—"लेकिन-वेकिन मैं अब सुनना ही नहीं चाहती।"

ला०—"तो आज घर जाऊँगा।"

को०—"कब जाइयेगा?"

ला०—"शाम को।"

को०—"शाम को नहीं, अभी जाइये। अभी गाड़ी मिल भी जायगी।"

नगीना में रूप था, छवि थी, और-और भी कुछ था। वह लालता बाबू के साथ हँसती थी, तो उनकी उदासीनता देखकर खुद भी गम्भीर हो जाती थी।

कोकिला में रूप था, यौवन भी था। लेकिन सब से अधिक आकर्षण उसकी स्वर-लहरी में था। जब वह गाने बैठती, तब एक बार हृदय में हलचल मचा देती।

लालता बाबू उसके इसी गुण पर रीझे हुए थे। पर उन्होंने उसके दिल को कभी टटोला न था। आज की बातचीत में उन्होंने उसके हृदय का प्रतिबिम्ब देखा तो उन्हें नगीना का ख्याल आ गया। जीवन के पिछले तीन-चार वर्षों में कभी कोई भी दिन ऐसा न आया था, जब नगीना ने उनसे रुपये-पैसे के लिए इस तरह की बातचीत की हो।

कोकिला की इस बातचीत में उन्हें वेश्या का यथार्थ रूप दिखाई पड़ा, तब वे चट से उठ बैठे। अब वे वहाँ एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहते थे। कपड़े कुछ पहनते और कुछ हाथ में लेते हुए वे उसके मकान से बाहर आ गये।

दिन भर लालता बाबू बनारस में ही रहे।

रात हुई, नौ बजे, वे धीरे-धीरे टहलते-टहलते दालमण्डी पहुँचे और कोकिला के मकान के पास ही एक शरबत वाले की दूकान में बैठ गये। आधा गिलास सोडा लिया, उसी में अपनी जेब से एक शीशी निकाल कर उड़ेल ली। धीरे-धीरे उसे पीते जाते थे, साथ ही साथ कोकिला के मकान की ओर भी देखते जाते थे। भरे गिलास को गले के घाट उतार कर वे पहले धीरे-धीरे और फिर झपट कर, कोकिला के कोठे के जीने की ओर बढ़ कर, जल्दी से चढ़ने लगे।

अन्तिम सीढ़ी पर अभी वे चढ़ भी न पाये थे कि, नौकरानी ने आ कर उन्हें देखा, और कहा—"अच्छा, आप हैं ?"

लालता बाबू और भी आगे बढ़ गये—और उसी कमरे में दाखिल हो गये, जहाँ कोकिला गाना गा रही थी। उन्होंने देखा, और भी दो नवीन श्रोता वहाँ उपस्थित हैं।

लालता बाबू को वे दोनों श्रोता बड़े ध्यान से देखने लगे। कोकिला ने गाना बंद करके एक बार उन्हें देखा और मुसकरा दिया।

लेकिन लालता बाबू ठहरे नहीं, चुपचाप लौटने लगे। अब कोकिला उठ खड़ी हुई। जब तक वह जीने तक आयी, तब तक लालता बाबू नीचे आ चुके थे। उसने कहा—"क्या बात है ऊपर क्यों नहीं चलते ?"

लालता ने जवाब दिया—"अभी तक इलाहाबाद नहीं गया था, अब जा रहा हूँ।"

कोकिला ने उनकी ओर ध्यान से देखा, उनकी आँखों से चिन-गारियाँ-सी निकल रही थीं, मुँह लाल हो रहा था। उसने उनका हाथ पकड़ कर कहा —"कल चले जाइयेगा, ऐसी क्या जल्दी है। जान पड़ता है···अरे सुनिये तो।"

लेकिन लालता बाबू ने उत्तर दिया—"मैं आदमी की जात पहचानता था, पर आज कुत्ते की जात पहचानने का भी अवसर मिल गया ?" कोकिला ने चाहा कि हाथ पकड़ कर खींच ले; पर कुछ ऐसी बात हुई कि वह झटका खा गयी और वहीं फर्श पर जा गिर पड़ी। नौकरानी, बुढ़िया, उस्ताद जी तथा श्रोतागण जब तक नीचे आवें, तब तक लालता बाबू इक्के पर बैठ चुके थे। और इक्का बनारस का था।

नगीना ने जब सुना कि लालता बाबू की माँ का देहान्त हो गया तो वह और भी अधिक उदास और गम्भीर हो गयी। कई बार उसके जी में आया कि वह उनके घर जाकर उन लोगों को देख आये; लेकिन बेचारी पतिता नारी वहाँ कैसे जाती। यों जब से लालता बाबू उसके यहाँ से चले आये थे, तभी से उसे कुछ अच्छा न लगता था। पर आज तो

वह एकदम व्याकुल हो पड़ी। उससे खाना भी न खाया गया। तिछत्ते पर बैठी हुई वह बड़ी देर तक कुछ सोचती रही। अपने जीवन की प्रात बेला में उसने जिन-जिन के साथ रूप-यौवन का सौदा किया था, एका-एक लालता बाबू की प्रेम-ग्रन्थि ने सब के प्रति उसके हृदय में घृणा और पश्चात्ताप का नरक-कुण्ड भर दिया था। पर आज एक मास से तो वह नितान्त निराश्रित थी, उसके भविष्य की सुनहरी कल्पनाएँ धूल में मिली जा रही हैं। वह करे तो क्या करे, और जाय तो कहाँ जाय!

नगीना बैठी हुई इसी उलझन में थी कि नीचे से एक आदमी ने आकर कहा—"मालकिन ने आज संध्या के समय आपको बुलाया है।"

मनोवांछित ऐसे संदेश से प्रसन्न हो नगीना ने उत्तर में कह दिया—"अच्छा मैं शाम को आऊँगी।"

ज्यों-त्यों करके सन्ध्या हुई। और नगीना रमा के सामने जा पहुँची।

बड़ी देर तक किसी के मुँह से कुछ न निकला।

अनन्तर रमा ने आँसू भरकर कहा—"अम्मा तो चल बसीं।"

नगीना—"हाँ मुझे कल मालूम हो गया था।"

रमा—"उनका नाम रटते-रटते उन्हें देखने के लिए ललचते-ललचते उनके प्राण छूटे। अन्त काल तक वे यही कहती रहीं—"भैया नहीं आये।"

नगीना ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह उत्तर क्या देती? लालता के जीवन को ऐसा बनाया किसने? उसी ने तो। फिर भला वह अपना मुख कैसे खोलती? धीरे-धीरे रमा बोली—"आपको मैंने जिस लिए तकलीफ दी है, वह बात कहना चाहती हूँ, पर कहने की हिम्मत नहीं होती। अगर आप यहाँ न आतीं, तो फिर मुझे ही आपके यहाँ जाना पड़ता।"

नगीना की आँखों में आँसू छलक आये।

रमा ने कहा—"जब से उनका पता नहीं है, तब से आपको भी मैं बिल्कुल बदली हुई पा रही हूँ। भला यह भी कोई बात है कि, मैं

आदमी का मुँह देखकर उसके हृदय का दुख-सुख पहचान न सकूं ! नहीं तो···।"

नगीना अपना मुँह नीचे की ओर किये हुए टप-टप आँसू गिरा रही थी।

रमा फिर बोली—"भला उनका कहीं पता लगा ?"

नगीना ने आँसू पोंछते हुए कहा—"वे काशी चले गये हैं। इधर ८-१० दिन हुए मेरे यहाँ एक बार आये थे।"

रमा ने पूछा—"किस लिए आये थे ?"

नगीना—"कुछ रुपये चाहते थे।"

रमा—"फिर ! आपने क्या कहा ?"

नगीना—"मैंने उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया।"

रमा—"बस यही आपने उनके साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया। काश पहले से ही यही नीति आपने बरती होती !"

नगीना—"अभी वे फिर मेरे यहाँ आयेंगे। मुझे पूरा यकीन है, जरूर आयेंगे।"

रमा—"वे आवें चाहे न आवें। आकर भी वे अब क्या कर लेंगे। इन बच्चों के लिए उन्होंने क्या छोड़ा है ? दर-दर भीख माँगना बदा है।"

नगीना एक ठण्डी साँस लेकर रह गयी।

रमा—"अम्मा की अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए कम-से-कम पाँच सौ तो अभी चाहिए। मेरे बदन पर गहनों की जगह यही खाल रह गयी है। सो अब इसको भी तो कोई नहीं पूछेगा।"

नगीना—"आपसे इस तरह की बातें सुनकर···!"

रमा—"क्या मैं कुछ झूठ कहती हूँ बहन ? अब यही होने को है। आपको क्या मालूम है; फीस अदा न हो सकने के कारण राम प्यारे का नाम स्कूल से काट दिया गया।"

रमा के मुँह से बहन सम्बोधन सुनकर नगीना का हृदय पानी हो गया। उसने कहा—"अब और ज्यादा मुझे न सुनावें। मुख्तार साहब को कल मेरे यहाँ भेज दें, जरूर। फिर सब ठीक हो जायगा। आप घबरावें नहीं। ये बच्चे अकेले तुम्हारे ही नहीं हैं मेरे भी तो हैं।"

चौक का मकान नगीना ने तभी बेच डाला था, जिस दिन उसकी रमा से बातचीत हुई थी। फिर और साथ ही उसने अपने सब गहने भी बेच डाले। इस तरह बीस हजार रुपये उसने रामप्यारे के नाम बैंक में जमा कर दिये मुख्तार साहब आकर फिर रियासत की देख-भाल करने लगे।

अब नगीना लालता बाबू के मकान के पास, एक छोटे से मकान में रहने लगी। वह लालता बाबू के बच्चों की देख-भाल करती, उन्हें खिलाती, उनके साथ खुद भी खेलती। उनकी तोतली बोली, उनका ठुमुक-ठुमुक चलना, उछलना, कूदना और आपस में लड़ना और रोना, उन्हें मिठाई खिलाकर मनाना, स्कूल भेजना, प्यार से उनकी चुम्मी लेना, और डाट से उन्हें झिड़कना और उनका सुधार करना यही सब काम नगीना किया करती।

बच्चे नगीना के सामने जब कभी रमा के पास जाकर उसे "अम्मा" कहते, तब रमा कहती "मैं तुम्हारी अम्भा नहीं हूँ, अम्मा तो तुम्हारी वह है, वह !"

बच्चे उछलकर नगीना की गोद में जा गिरते और नगीना पुलकित हो उठती।

कल प्यारे के ब्याह का दिन था। बारात रामप्यारे को ब्याहने गयी हुई थी। रात को घर में जब नाटक हो रहा था, उसी समय एक आदमी ने घर में प्रवेश किया।

नगीना गा रही थी—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।"

एकाएक किसी के खाँसने की आवाज हुई। एक स्त्री ने चौंककर कहा—"यह खाँसा कौन ?"

दूसरी ने विस्मित होकर कहा—"कोई है।"

तीसरी ने उपेक्षा के साथ कहा—"होगा कोई हमसे मतलब ?

अब नगीना ने गया—

"अँसुअन सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई।"

इसी समय किसी स्त्री ने बिगड़कर कहा—"नगीना बहिन कोई है जरूर।"

गाना बन्द हो गया। स्त्रियाँ भयभीत होने लगीं।

नगीना ने पास ही टँगी हुई लालटेन लेकर दरवाजे की ओर बढ़ते हुए देखा, बरामदे की चारपाई पर लेटा हुआ एक आदमी फिर खाँसा। नगीना समीप पहुँची। उसने लालटेन के प्रकाश में देखा, लालता बाबू अपने हाथ की उँगली को अपने दाँतों के नीचे दबाये हुए एक ओर देख रहे थे। उनका शरीर सूखा हुआ था, दाढ़ी बढ़ी हुई, कपड़े मैले-फटे।

नगीना उनके पास ही बैठ गयी। उसके साथ में आने वाली स्त्रियाँ लौट गयीं।

नगीना ने एक ही बार में सारी बातें पूछने का उपक्रम करते हुए पूछा—"कब आये, कहाँ रहे, यह हालत कैसे हो गयी !"

लालता बाबू के पास कोई शब्द नहीं थे। आँसुओं की बूँदें उनकी आँखों से निकल-निकल कर टप-टप गिर रही थीं। और रमा किवाड़ों की अर्ध ओट में खड़ी यही सब देख रही थी।

स्वर्ग-सुख

मातावदल नगर का नामी मिस्त्री था। साइकिल और मोटर-साइकिल दुरुस्त करने के काम में वह उस्ताद था। इस सम्बन्ध का कोई भी काम उसकी दूकान से वापस न जाने पाता था। अब वह वृद्ध हो चला था। उसके गाल पिचक रहे थे। चेहरे पर झुर्रियाँ साफ झलकने लगी थीं। आँखें गड्ढों में धँसी जा रही थीं। बात यह थी कि पिछले दस वर्ष उसने बड़ी मेहनत में बिताये थे। सड़क के चौराहे के कोने में, बड़े अच्छे मौके पर उसकी दूकान थी। इसलिए सवेरे से लेकर रात के बारह बजे तक उसके यहाँ ग्राहकों का आना-जाना बराबर लगा रहता था। आमदनी की बात ठहरी। इसी प्रलोभन में मातावदल की दूकान रात के बारह बजे तक खुली रहती थी।

मातावदल ने अब रुपया भी काफी पैदा कर लिया था। उसकी दूकान पर अब कई छोटे-छोटे लड़के काम करते थे। अब उसको अक्सर फ़ुरसत मिलने लगी थी। जब कभी लड़के शैतानी कर बैठते, तो मातावदल किसी को पकड़ कर उसके सिर पर तड़ी रसीद कर देता, किसी के कान मल देता और किसी-किसी को दो-चार खरी-खोटी सुना देता। लड़के थोड़ी देर में मिल जाते और आपस में हँसी करने लगते। इन्हीं लड़कों में एक लड़का रघुआ नाम का था। कोई-कोई उसे रग्घू भी कहा करते थे। पर असल में क्या रघुआ और क्या रग्घू दोनों ही नाम उसके बिगड़े हुए नाम थे। वास्तव में नाम उसका बड़ा दिव्य था—राघव।

उस लड़के का 'राघव' नाम जैसा दिव्य था और जैसे उसको पुकारने वाले उसे 'रघुआ' कहकर एक हलके प्यार की छाप लगा देते थे, वैसे ही राघव का स्वभाव भी कुछ कम दिव्य न था। वह बड़ा हँसोड़

था, बड़ा दिल्लगीबाज। वह अपने सब साथियों को खूब हँसाया करता था।

मातावदल को अब खाँसी आने लगी थी। जब वह किसी पर बिगड़ने लगता था, तो खाँसी के साथ-साथ उसकी साँस भी उमड़ पड़ती थी। दोपहर को जब वह घर पर खाना खाने न जाता तो किसी-न-किसी लड़के को घर भेज कर खाना मँगा लेता था। एक दिन पानी बरस रहा था। ऐसी झड़ी लगी थी कि किसी लड़के का दूकान से निकल कर सड़क पर आना कठिन हो रहा था। दोपहर हो गई थी। सब लड़के बारी-बारी से, समय निकाल कर, छाता लगाकर, अपने-अपने घरों से खाना खा आते थे। अब मातावदल की बारी थी। जिस समय लड़के खाना खाने के लिए गये थे, उस समय तो उतनी जोर से पानी नहीं बरसता था, पर अब तो क्षण को भी पानी का बरसना बन्द नहीं हो रहा था। यह हालत देखकर मातावदल बड़बड़ाने लगा—अब यह पानी भी दम नहीं लेगा। कितनी देर से देख रहा हूँ, साला बन्द ही नहीं होने आता है। पराँठे तो भीग ही जायँगे, आलू-गोभी का साग भी सत्यानाश हो जायगा! कैसा साला······उँह देखो तो, झड़ी लगाये हुए है।

रघुआ ने नीचे मुँह किये हुए, अपने साथियों की ओर एक बार आँखों का चक्कर लगा कर धीरे से कहा—बकरा सनका-सनका। बस, अब···(तब तक एक साथी इस्माइल ने जरा-सा हँस दिया) खाँसना ही चाहता है।

रघुआ यह कह कर चुप हो गया। इस्माइल हँस-हँसा-कर टेढ़ा-तिरछा मुँह बनाने लगा। तिरबेनी से न रहा गया। वह ठट्ठा मार कर हँस पड़ा। रघुआ धीरे से कह उठा—लो बच्चू, अबकी मरम्मत हुए बिना······। वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि बुड्ढा बोला—क्या है रे तिरबेनी, बड़ी हँसी छूट रही है। आऊँ क्या? सालों को बीसों मरतबे समझाया, मानते ही नहीं। आज एक-एक को देखूँगा—क्यों हँसता है बे? बोल तो!!

तिरबेनी ने मुँह लटका लिया। वह बोला—कुछ नहीं दादा, यह रघुआ···देखो-देखो, अब तक हँसी लगा रहा है।

बुड्ढा बोला—वह तो चुपचाप टायर लगा रहा है। साला झूठ बोलता है।

इतना कह कर वह उठा और चला तिरबेनी के चपत जमाने। एक-दो-तीन, अरे-अरे—चटापट। देखते-देखते, उसके, पाँच-सात, चपतें बैठ गईं। बुड्ढा कहता गया—ले साले, ले साले, और हँसेगा और हँसेगा।

तिरबेनी कहता गया—नहीं दादा—नहीं दादा। अब नहीं।

लेकिन सच पूछो तो मातावदल बहुत सहती हुई चपतें, पोले हाथों से, लगाता था। वह खुद यह नहीं चाहता था कि तिरबेनी चपतें सहन न कर सके और रोने लगे। उसे किसी का रोना बहुत बुरा लगता था।

बुड्ढा चपतें लगा कर, लौट कर अपने बिछे हुए तख्त पर बैठ भी न पाया था कि रघुआ बोल उठा—बड़ा साला फुर्तीला है। रघुआ इतना ही कह पाया था कि बुड्ढे ने मुँह घुमाकर, एक-आध सफेद-सफेद चमकने वाले बालों-वाली भौंहें चढ़ाकर पूछा—क्या है रे, रघुआ ?

रघुआ बोला—कुछ नहीं दादा, एक बुड्ढा मुसवा था, सो चटपट मेरी टोकनी से एक धान की खील उठा कर चट कर गया और मैं देखता ही रह गया। बड़ा साला बदमाश है। ऐसा बड़ा खुर्राट है कि······।

रघुआ की बात पर इस्माइल और तिरबेनी दोनों के दोनों फिर खिलखिला पड़े। बात यह थी कि रघुआ के पास जो टोकरी रक्खी थी, उसमें अब धान की खीलें गिनती की तीन रह गई थीं। और यहाँ किसी चूहे का पता न था।

इसी समय एक ग्राहक आकर तिपाई पर बैठ गया और कहने लगा—

मेरी साइकिल का टायर दो जगह कट गया है। उसमें टायर के टुकड़े रख देने की जरूरत है।

बुड्ढे ने जैसे कुछ सुना न हो। वह कह रहा था देखा आपने, साले सब-के-सब शैतान के बच्चे हैं। आपस में हँसते हैं, और मुझे बहला देते हैं। अभी-अभी इस छोकरे की खोपड़ी गरम करके लौटा था कि देखो फिर हँसने लगा।

ग्राहक बोला—अजी, जाने भी दीजिए, लड़के ठहरे। लड़कों का स्वभाव ही······।

बुड्ढा बिगड़ कर बोल उठा—जाने क्यों दें, जनाब ! यह दूकान है, या कोई चंडूखाना है।

ग्राहक—बड़ी जल्दी आपका मिजाज गरम हो जाता है। मैंने तो धीरे से आप से कहा और आप इस तरह बिगड़ उठे।

अब बुड्ढा कुछ शान्त होकर बोला—बिगड़ने की बात नहीं है बाबू जी, ये सब-के-सब बड़े शैतान हैं, आप इन्हें नहीं जानते।

ग्राहक बोला—खैर, होगा। आप भी तो कभी लड़के रहे होंगे। क्या आप बिल्कुल सीधे-सादे—एकदम-बहुत ही अच्छे लड़के रहे होंगे ! मुझे तो यकीन नहीं होता। माफ कीजिएगा।

अब माताबदल ने भी थोड़ा मुस्करा दिया। वह बोला—खैर, कहिए आपका काम क्या है ?···और हाँ रे रघुआ, देख पानी कुछ मध्यम हुआ, जा, खाना तो ले आ।

रघुआ ने चट से एक नई साइकिल ली और चल खड़ा हुआ। इस्माइल बोला—बाबू जी, रघुआ नई साइकिल ले गया।

बुड्ढा बोला—देखी बाबू जी आपने उस छोकरे की शैतानी। नई साइकिलें ग्राहकों के लिए ली गई हैं या इन बदमाशों के लिए ?

ग्राहक—आपका कहना भी ठीक है। पर आप इसकी निगरानी क्यों खरते नहीं ?

बुड्ढा—निगरानी ! अब निगरानी—आप ही बतलाइए, जब तक खबर पाऊँगा, तब तक वह लेकर चम्पत हो जायगा ! यही तो इनकी बदमाशी है। और मैं आपसे अर्ज क्या कर रहा हूँ।

ग्राहक—अच्छा, अब हमारे फटे टायर के अन्दर टुकड़े तो रखवा दीजिये। कितनी देर से बैठा हूँ।

(२)

माताबदल के घर में उसकी बुढ़िया पत्नी थी और एक कन्या। बच्चे तो उसके कई हुए थे, पर कुछ ही दिनों तक अपनी लीला का आलोक दिखाकर अन्तर्धान हो जाते रहे थे। कन्या अभी छोटी ही थी। कोई सात वर्ष की होगी। नाम था पार्वती।

पार्वती ही उस बुढ़िया के अँधेरे घर का प्रकाश थी। जब कभी वह जो चीज चाहती, तब, उसी समय उसके लिए, वही चीज बुढ़िया मँगा देती थी। एक मास्टरनी उसे पढ़ाने को उसके घर पर आती थी। बुढ़िया और बुड्ढे, दोनों का विश्वास था कि लड़कियों के स्कूल में पार्वती को भी अगर पढ़ने को भेजा जायगा, तो वह पढ़ेंगी तो कम, लेकिन शौक-जौक और फिजूल-खर्ची ज्यादा सीख लेंगी। इसीलिए पार्वती की शिक्षा उसके घर पर ही होती थी। लेकिन पढ़ने में उसका जी नहीं लगता था। वह दिन भर मुहल्ले की लड़कियों के साथ खेला करती थी। मास्टरनी आती तो उसे कभी मालूम होता, आज पार्वती की तबीयत ठीक नहीं है, उसके सिर में दर्द है, वह आज नहीं पढ़ेगी। कभी मालूम होता, आज उसकी गुड़िया का ब्याह है, भला आज पढ़ने का क्या काम ? इस तरह पार्वती की शिक्षा का कार्य बहुत ही मन्द गति से चलता था। बड़ी कठिनता से वह डेढ़ साल में मामूली नाम लिखना सीख सकी थी।

रघुआ जब माताबदल के लिए खाना लेने आता, तो थोड़ी देर के लिए पार्वती रघुआ के साथ भी हँस-खेल लेती थी। रघुआ पार्वती को

परेशान किये बिना न मानता। वह कभी उसके सिर के बालों में खोंसने के लिए गुलाब के फूल ले आता; कभी अँगरेजी खटमिट्ठी धीरे-धीरे चूसने वाली मिठाई। वह जब मिठाई ले आता, तो पार्वती को दिखा-दिखाकर खाने लगता। पार्वती झपट कर उसके हाथ या जेब से मिठाई छीन लेने की चेष्टा करती। इस तरह जब तक एक-आध बार गुथ कर आपस में लड़ न लेते, एक आध बार इधर-से-उधर भाग न लेते और अन्य किसी तरह की और कोई बात न होती, तो धोखे से चिकोटी काट कर एक दूसरे को हँसा या ऊपरी मन से ऊँ-ऊँ करके रुला न लेते थे, तब तक दो में से किसी को संतोष न होता था। शिकायतें कभी बुढ़िया के पास पहुँचतीं और कभी सीधे माताबदल के पास। कभी रघुआ कहता—देखो बाबू जी, दीदी ने मेरी टोपी कीचड़ में फेंक कर गन्दी कर दी है, कभी पार्वती कहती—नहीं दादा, मैंने यह कुछ नहीं किया है। इसी ने मेरी गुड़िया का सिर हिला-हिलाकर उखाड़ डाला है। बेचारा माताबदल जब कभी दोनों पक्षों की बात सुनने बैठता और चाहता कि कुछ न कुछ फैसला कर दिया जाय, तो वह दोनों को अपराधी पाकर हैरान हो उठता और उपरले मन से कहने लगता—यह रघुआ बड़ा शैतान हो गया है, क्यों री? अब इसको निकाल दिया जाय। क्यों? पार्वती उस समय मुँह लटका लेती और उसके मुँह से फिर कोई बात सहसा नहीं निकलती थी। माताबदल अपने पोपले मुँह पर मन्द-मन्द हास्य छिटकाता हुआ पार्वती के पीछे पड़ जाता था। वह यह जानते हुए भी कि पार्वती रघुआ का हटाया जाना पसन्द न करेगी, बार-बार इसी की बातें करने लगता था। लाचार होकर पार्वती को कहना पड़ता—नहीं दादा, रघुआ की मैं शिकायत थोड़े ही करती हूँ। उसने जब मेरी शिकायत की, तब फिर मुझे भी उसकी शिकायत करनी पड़ी। नहीं तो, वैसे मैं उससे कुछ ज्यादा नाराज तो हूँ नहीं। माताबदल जब पार्वती का यह उत्तर पाकर कहता—तो रघुआ बड़ा ही अच्छा लड़का है। क्यों न? जाड़ा आ गया है, उसके लिए ऊनी कोट बनवा दिया

जाय, क्यों ? तो पार्वती उसी समय आकर मातावदल की गोद में बैठकर कभी उसकी दाढ़ी के बाल सहलाने लगती और कभी उसके कोट के बटन खोलने लगती थी। मानो यही उसके प्रश्न का उत्तर होता था।

(३)

रघुआ दूकान में ही सोता था। उसके घर-द्वार कोई न था। जब उसने अपनी सुध सँभाली थी, तब उसने अपने आपको गंगा घाट पर भीख माँगते हुए पाया था। मातावदल एक दिन गङ्गा-स्नान करके ज्योंही लौटने लगा, त्यों ही रघुआ कई लड़कों के साथ उसके पीछे पड़ गया। और लड़के तो अन्य लोगों से कुछ पैसे पा चुके थे, पर उस रघुआ को एक पैसा भी न मिला था। इसीलिए वह बड़ी दूर तक मातावदल के पीछे-पीछे चला आया। अन्य लड़के लौट गये थे। मातावदल ने अपनी जेब टटोली, तो एक भी पैसा न था। रुपए ही रुपए थे। विवश होकर कहना पड़ा—यहाँ तो पैसे नहीं हैं। और तू इतनी दूर तक मेरा पीछा करता हुआ चला आ रहा है। इसलिए अब तुझे लौटाऊँगा नहीं। दूकान पर चल तो तुझे पैसे दूँ। इस तरह रघुआ मातावदल की दूकान तक उसके पीछे-पीछे चला आया था।

दूकान पर बक्स से पैसे निकाल कर ज्योंही मातावदल रघुआ को पैसे देने लगा, त्योंही उसके मन में आया कि उसका हाल-चाल भी पूछ देखूँ। इसलिए पैसे संदूकचे के ऊपर रखकर मातावदल ने पूछा—पैसे लेकर क्या करोगे, बाल ?

रघुआ तब जरा और छोटा था। यही ४-६ वर्ष का रहा होगा। उसके बालों में कड़वा तेल पुता हुआ था। उस पर धूल भी काफी जमी हुई थी। स्वस्थ देह पर एक फटा-पुराना चीकट कुरता था, जिसकी बाँहें हाथों को पार कर जातीं यदि वह लौटाई न गई होतीं। कुरते की लम्बाई पैर की गाँठों को पार कर गई थी। इस कुरते के सिवा उसके बदन पर कोई दूसरा कपड़ा न था। इसलिए कहना होगा, भीतर से वह नंगा था।

खीसें बाकर, आगे के बड़े-बड़े दो दाँत दिखलाते हुए, रघुआ बोला—जिबेली खायँगे।

माताबदल की छोटी कन्या पार्वती तब ढाई-तीन वर्ष की रही होगी। वह भी तोतली बोली बोलने लगी थी। इसीलिए 'जिबेली' शब्द के समझने में मातावदल को जरा भी देर न लगी। उसके मन में आया कि उसे एकदम से उठाकर उसका धूल-धूसरित मुख चूम ले, पर कुछ सोच कर वह स्थिर रहा।

अब मातावदल ने पूछा—तेरी माँ कहाँ है ?

रघुआ—माँ-माँ, क्या जाने कहाँ चली गई। दस-बारह दिन से मिली ही नहीं। सभी जगह तो ढूँढ फिरा।

मातावदल—तो वह कहीं चली गई।

रघुआ ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी आँखों में आँसू झलक आये।

मातावदल ने फिर पूछा—और तेरा बाप कहाँ है ?

रघुआ ने उत्तर दिया—मैं नहीं जानता।

मातावदल मन-ही-मन कहने लगा—बेचारा अनाथ है। फिर वह बोला—अच्छा, अब तुम कहाँ जाओगे ?

रघुआ—अपने साथियों के पास जाऊँगा, और कहाँ।

मातावदल—वहाँ जाकर क्या करोगे ?

रघुआ—पैसे माँगूँगा, जिबेली खाऊँगा और घूमूँगा !

माता०—रात में कहाँ रहते हो ?

रघुआ—अपने साथियों के साथ, जहाँ जी में आया, वहीं सो रहा।

माता०—अगर तुम मेरे यहाँ रहो, तो कैसा हो ? रोज जलेबी खाने को मिलेगी, कपड़े भी पहनने को मिलेंगे। इसके सिवा जो कुछ तू चाहेगा, वह भी दिया जायगा।

रघुआ कुछ सोचने लगा।

मातावदल भी रघुआ के मन का भाव ताड़ने की चेष्टा करने लगा। थोड़ी देर तक जब रघुआ मौन रहा, तो मातावदल ने फिर पूछा—बोलो, क्या कहते हो ?

रघुआ ने कहा—मैं तुम्हारे यहाँ नहीं रहूँगा।

मातावदल—क्यों ?

रघुआ फिर चुप था। मातावदल ने कहा—तुम्हें मेरे यहाँ कोई तकलीफ न होगी। यह कह कर उसने अपने यहाँ काम करने वाले एक लड़के तिरबेनी से मिठाई और जलेबी मँगा-कर रघुआ को खिलाई।

रघुआ खुशी-खुशी मिठाई खाने लगा। आज उसने पेटभर मिठाई खाई। मिठाई खाने के बाद उसने निकट ही सड़क पर लगे हुए पाइप में पानी पिया। अब वह बड़ा खुश देख पड़ा।

मातावदल ने कहा—ये लड़के दूकान में काम करते हैं, इन्हीं के साथ खेला करना। क्यों, है न तुम्हारा जोड़ ?

रघुआ खुश होकर, दाँत बाकर उनकी ओर देखने लगा।

इस प्रकार रघुआ मातावदल के यहाँ हँसी-खुशी से रहने लगा। एक-आध बार जब उसे अपने पुराने साथियों की याद आई तो वह भाग भी गया। पर उनके साथ रहकर जब वह भूख न सह सका तो फिर लौट आया। जब कभी उसका कोई साथी मिल जाता, तब वह देर तक उससे तरह-तरह की बातें करता रहता। कभी-कभी उसकी इच्छा उनके साथ रहने की भी हो आती, पर उस अनिश्चित जीवन के कष्टों को सह सकने योग्य सामर्थ्य उसमें रह न गयी थी। बल्कि ऐसे जीवन से अब वह घृणा भी करने लगा था। इसका एक कारण यह भी था कि किसी से कोई वस्तु माँगते हुए उसकी आत्मा को बहुत क्लेश पहुँचता था।

(४)

पार्वती अब सयानी हो रही थी। उसके मृदुल चंचल स्वभाव में गंभीरता आने लगी थी। दौड़ कर चलना, रघुआ पर किसी विशेष वस्तु

के लिए एकदम से आक्रमण करना, साधारण-सी बात पर उससे मान करना या ठट्ठा मार कर हँसना धीरे-धीरे कम हो चला था।

लेकिन रघुआ का लड़कपन अभी तक वैसा ही बना था। जब कभी मौज आता, जरा भी सड़क खाली देखता, तो वह चट साइकिल के हथकंडे दिखाने लगता था। कभी साइकिल पर चढ़े-चढ़े उसका अगला पहिया उठा लेता, कभी दो साइकिलें लेकर क्षण-क्षण में एक से दूसरी पर आता-जाता और दोनों को बराबर चालू रखता, कभी उसकी 'सीट' पर पेट के बल लेट जाता, पैर 'कैरिअर' पर पीछे रख लेता, और दोनों हाथों से दोनों ओर के "पैडिल" घुमा-घुमाकर साइकिल दौड़ाता और जब चाहता, तभी चट से साइकिल खड़ी करके नीचे आ जाता। इस तरह के खेल दिखलाते हुए उसे अपार हर्ष होता था। एक बार रघुआ यह खेल दिखलाने में व्यस्त था, उसी समय एकाएक पार्वती दूकान पर आ गई। दूकान के अन्दर बैठी हुई वह चुपचाप रघुआ के खेल देखती रही। एक बार रघुआ दो साइकिलों को चलाते हुए दोनों की सीटों पर उछल-कूद कर रहा था, एकाएक सामने एक आदमी आ गया। रघुआ ने उसको बचाने की चेष्टा की, तो धड़ाम से दोनों साइकिलों को लेकर सड़क पर आ रहा। दर्शकों ने करतल ध्वनि की और उसी समय पार्वती भी हँस पड़ी। फिर तो रघुआ दूकान में पार्वती को बैठी हुई देखकर बहुत लजा गया। वह दूकान की ओर बढ़ा, तो उसने देखा पार्वती उसकी ओर देखकर मुँह में रुमाल लगाये हुए मुस्करा रही है। अब तो रघुआ और भी कट गया।

पर रघुआ कुछ बोला नहीं। हाँ, कोई एक भाव उसके मन को मसोसने जरूर लगा। बार-बार उसके जी में आया, अगर मैं अपने मन में साइकिल पर पूरी तरह से अधिकार होने का अभिमान न करता, तो काहे को आज मुझे पार्वती के सामने लज्जित होना पड़ता। बार-बार वह अपनी चंचलता को धिक्कारने लगा। उसका चेहरा बिल्कुल उतर गया।

रघुआ को अन्यमनस्क देखकर पार्वती ने कहा—दादा, मैं तो रग्घू भैया के खेल देखकर एक दम से चकित हो गई।

यह कहकर पार्वती रघुआ की ओर देखने लगी।

मातावदल बोला—हाँ बेटी, रघुआ साइकिल का मास्टर है।

पार्वती बोली—कहीं नुमायश या मेला हो और वहाँ रग्घू भाई अगर अपने इस तरह के करिश्में दिखलाने का मौका पाये और टिकट लगा दिया जाय, तो सैकड़ों रुपए इकट्ठे हो जायँ।

मातावदल—वैसे ही रघुआ कौन कुछ कम पैदा करता है। अब उसने रुपया जमा करना शुरू कर दिया है। तीन-चार सौ रुपए जमा कर लिया होगा। क्यों रे?

रघुआ प्रसन्नता से गद्‌गद् हो गया। उल्लसित मुख से, अपने बड़े-बड़े दाँत बाहर निकाल कर बोला—हाँ दादा, अब तो पूरे चार सौ रुपये हो गये।

मातावदल—फिर क्या है, जहाँ एक हजार पूरे हो गये, रघुआ का ब्याह कर दूँगा।

रघुआ ने पार्वती की ओर देखते हुए कहा—नहीं दादा, मैं ब्याह-श्राह नहीं करूँगा। इसी तरह बड़े मजे में हूँ।

मातावदल—दुत्! पागल कहीं का! यह क्या कहता है! ब्याह नहीं करेगा, तो क्या तेरे लिए रोटी पो-पोकर खिलाने को पार्वती यहाँ बैठी रहेगी।

रघुआ एकाएक गम्भीर हो गया। उसकी समझ में नहीं आया कि अब वह क्या उत्तर दे। और कुछ इधर-उधर न देखकर वह एक ग्राहक की साइकिल की मरम्मत करने में लग गया। इतने में दो ग्राहक आ गये। मातावदल की बात जहाँ थी, वहीं पड़ी रह गई। पार्वती भी घर की ओर चल दी।

(५)

पार्वती का ब्याह हो गया। वह अपनी ससुराल चली गई।

घर पर पार्वती की बुढ़िया माँ ही अकेली रह गई। रोटी बनाने के लिए एक महराजिन आने लगी थी। कुछ दिनों तक तो पार्वती का अभाव बहुत खलता रहा; पर फिर धीरे-धीरे सब काम ढंग पर आ गया।

जब कभी पार्वती की माँ की तबियत खराब होती तो वह सोचती, यदि इस समय मेरी पार्वती होती, और मेरे निकट बैठती, सिर में दर्द होता तो तेल की मालिश करती; पैरों में दर्द होता तो पैर दबाती। हाय, इस समय मेरी पार्वती भी नहीं है।

माताबदल के कोई लड़का न था। इसके प्राणों की निधि, उसकी एकमात्र आशा, अगर कोई थी, तो पार्वती। सो वह भी अपने घर की हुई। अब रघुआ ही निरन्तर उसके सामने रहता था लेकिन तब और अब के रघुआ में बड़ा अन्तर हो गया था। पहले तरह-तरह की रँगीली बातें तथा चूहुलबाजियों द्वारा लोगों को सदा हँसाते रहने में ही सारा समय जाता था। और न सही, तो वह अपने साथियों से लड़ ही बैठता था, और कुछ देर के लिए यही एक नुसखा बन जाता था। पर अब रघुआ एक युवक के रूप से आकर माताबदल की दूकान का मिस्त्री था। उसके साथी इस्माइल और तिरवेनी भी धीरे-धीरे चले गये थे। तिरवेनी कहीं मोटर-ड्राइवर हो गया और इस्माइल ने उन्नति करके साइकिल की दूकान खोल ली थी। पहले जब कभी रघुआ को भूख लगती तो वह झट माताबदल के लिए खाना लाने के बहाने घर को चम्पत हो जाता था। अब दोपहार के बाद एक भी बज जाता है तो रघुआ काम छोड़कर खाना खाने नहीं जाता। उधर माताबदल घर पर पड़ा रहता है। कभी-कभी उसकी साँस फूल आती है। खाँसी तो जैसे उसके साथ जीवन भर को लग गई है। जब कभी रघुआ को खाना खाने के लिए देर हो जाती, तो महराजिन खाना ढक कर चल देती। खाना ठंढा हो जाता। रघुआ जब पहुँचता, तो उसी ठंडे खाने को पेट के अन्दर जैसे-तैसे छोड़ लेता था। पहले चार पराँठे की भूख होती, तो पार्वती से मीठी-मीठी, सोंधी-सोंधी, बातें करते-करते चुटकियाँ बचाते हुए, छ खा जता और कुछ

मालूम न पड़ता था। अब चार की भूख होते हुए भी दो ही मुश्किल से पेट में छोड़ पाता था। देर हो जाने पर मातावदल कहता—आज तो तुमने बड़ी देर कर दी रग्घू।

रग्घू या तो कुछ उत्तर ही न देता, अथवा कह देता—हाँ दादा, काम ही ऐसा आ गया था।

एक दिन मातावदल ने कह भी दिया काम-ही-काम देखते हो, कुछ शरीर भी तो देखा करो। इसी से सब कुछ लगा है। तुम से रोज कहता हूँ, ब्याह कर लो, लेकिन तुम मेरी कुछ सुनते ही नहीं।

लेकिन रघुआ है कि ऐसी बातों का उत्तर देना नहीं जानता।

जब कभी पार्वती ससुराल से आती, तो एक नया संसार निर्मित हो जाता। उसके माता-पिता उससे बातें करते हुए फूले न समाते। पार्वती के लिए तरह-तरह का भोजन तैयार कराया जाता, बंगाली मिठाई और फलों की घर में इफरात रहती। कभी घर में गाना गाने वाली बुलाई जाती और रात के एक बजे तक संसार का स्वर्ग मातावदल के घर के आँगन में नाचा करता। इस प्रकार उन दिनों आनन्द-विनोद मातावदल के परिवार के कोने-कोने में छितराया रहता जा।

लेकिन रघुआ के मुख पर सदा गंभीरता की छाप रहती। पार्वती जब कभी कोई बात उससे कहती, तो वह बड़ी विनम्रता के साथ उसका उत्तर देकर चुप हो जाता। रघुआ का यह शुष्क व्यवहार बहुत दिनों तक टालती रही। एक दिन जब उसका जी न माना, तो उससे कहा—राघव भैया, आज मैं तुमसे कुछ बातें करना चाहती हूँ।

रघुआ ने चकित होकर कहा—मुझसे!

पार्वती—हाँ, तुम्हीं से।

रघुआ—क्या, कहो।

पार्वती—देखती हूँ, तुम्हारा स्वभाव ही एकदम से बदल गया है। मुझसे भी तुम एकदम कटे-कटे से रहते हो। इस तरह बातें करते हो,

जैसे मैं इस घर के लिए नई हो गई हूँ। क्या बचपन की बातें भी तुमने अपने हृदय से निकाल कर फेंक दी हैं? क्या तुम्हें कभी इतना अवकाश नहीं मिलता कि तुम घड़ी-दो-घड़ी को मुझसे भी मिलो, कुछ अपनी बात सुनाओ, कुछ मेरी सुनो।

रघुआ चुप था।

पार्वती पुनः बोली—बोलो न, चुप क्यों हो? मैंने जो कुछ कहा, तुमने उसे सुना नहीं?

रघुआ ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों में आँसू भर आये।

पार्वती ने कहा—मैंने तुमको कभी दूसरा नहीं समझा। इस घर में सदा तुम मेरे भाई की तरह रहे हो। लेकिन ससुराल से आने के बाद तुम में बड़ा परिवर्तन देख रही हूँ। वह हँसना, वह मसखरी की बातें करना, वह छीन-झपट और वह मान-विरोध तो जैसे तुम सदा के लिए भूल गये हो। सच बताओ, क्या तुमको यहाँ कुछ कष्ट है?

रघुआ उत्तर देने की परिस्थिति में अपने को नहीं देखता। अतः उसने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया।

पार्वती उसी तरह कहती गई—देखती हूँ, तुम्हारे मुख पर वह श्री भी अब नहीं रही है। सुनती हूँ, न तुम्हें खाने की परवा है, न पहनने की। दादा ने बतलाया है, वह तुमसे कह-कह के हार गए, पर तुम अपना ब्याह भी करने के लिए तैयार नहीं हो। यह सब कैसी बातें हैं? तुम पागल तो नहीं हो गए हो!

अब रघुआ चुप न रह सका। उसने अपने आँसू पोंछ डाले और कहा—आप यह सब बातें मुझसे क्यों पूछती हैं? मैं आप की बातों का उत्तर तो न दूँगा, लेकिन—लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका इन बातों से क्या प्रयोजन है?

पार्वती—क्या कहते हो, किससे ये बातें कर रहे हो! क्या तुमसे ये बातें मुझे पूछने का अधिकार नहीं है?

रघुआ—न, तुम्हें इन बातों के पूछने का कभी अधिकार नहीं था, यह मैं नहीं कहता। लेकिन अब वह अधिकार।

रघुआ की आँखें लाल थीं। उसका मुख एकदम तमतमा उठा था। उसने कहा—मैं इस सम्बन्ध में अब आप से क्या कहूँ? आपके शरीर में कहीं 'हृदय' नाम की कोई चीज है या नहीं, मैं तो यही निश्चय नहीं कर सका।

पार्वती ने गम्भीर होकर कहा—तुम भूल कर रहे हो राघव! तुमने अभी संसार नहीं देखा है। देखा भी है, तो दूर से; उसका अनुभव तो कतई नहीं किया। तुम्हारी ही तरह मैं भी रोना जानती हूँ। तुम तो पुरुष जाति के हो। तुम उतना रोना जानते भी नहीं, जितना मैं जानती हूँ। लेकिन जरा दूर तक सोच देखो। इस रुदन में क्या रक्खा है?

रघुआ एकटक पार्वती की बातें सुनता रहा। वह कुछ बोला नहीं। पार्वती कहती गई—और ये बातें पूछने के अधिकार की बात जो तुमने कही, सो उसमें भी तुमने भूल की है। यदि वह अधिकार मुझे कभी था, तो क्या तुम समझते हो कि वह कभी मुझसे छिन भी सकेगा? मैं सच कहती हूँ राघव, मुझसे वह अधिकार कोई नहीं छीन सकता।

रघुआ ने देखा, पार्वती का प्रफुल्ल मुख एकदम से उतर गया है, उसके गले का स्वर एकदम से विकृत होना चाहता है।

पार्वती कहने लगी—तुम मेरे जितने निकट तब थे, अब उससे भी अधिक निकट हो। तुम ब्याह कर लेते, तो मैं तुम्हें सहज ही में यह समझा सकती कि वास्तव में तुम मेरे कितने निकट हो।

रघुआ ने कहा—आपकी बातें बड़ी कठिन हैं। मैं उन्हें सुनते हुए सुखी तो होता हूँ, पर फिर भी उन्हें समझता नहीं। शायद समझ भी न सकूँगा।

पार्वती—तुम कैसे नासमझ हो, यह मैं जानती हूँ। तुम कैसे जिद्दी हो, यह भी मुझसे छिपा नहीं है। लेकिन तुम मेरी एक बात मानो, ब्याह कर लो।

रघुआ—किससे ?

पार्वती के मुख पर मुस्कराहट दौड़ गई। रघुआ भी हँसने लगा।

पार्वती बोली—बड़े बने हुए हो।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं।

पार्वती—बड़े ढीठ हो गये हो।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं।

पार्वती—अब तुम पिटोगे।

रघुआ—क्या अभी कुछ कसर रह गई है। इतना पिट चुका हूँ कि अभी तक छाले अच्छे नहीं हुए हैं।

पार्वती—देखूँ तो, दो-एक।

रघुआ ने छाती खोल कर दिखा दी। बोला—देख लो।

पार्वती ने देखा, रघुआ के बदन की एक-एक पसली गिनी जा सकती है। वह बोली—वाकई बहुत दुबले हो गये हो।

रघुआ—लेकिन अब जल्दी ही तगड़ा हो जाऊँगा।

पार्वती—कैसे ?

रघुआ—बस, दो-तीन महीने में देख लेना।

पार्वती—तो मेरी कही मान लोगे—ब्याह कर लोगे न ?

रघुआ हँसने लगा।

पार्वती—सच बोलो, क्या पक्का कर लिया ?

रघुआ—हाँ।

पार्वती—कहाँ-किसके साथ ?

रघुआ—अब यह न पूछो।

पार्वती—देखो, अब तुम पिटना चाहते हो।

रघुआ—जितना पीटना था, पीट चुकीं। अब नहीं पीट सकोगी।

पार्वती—तो बोलो, अब तुम इस तरह तो कभी न रहोगे, जैसे आज-कल रहते हो।

रघुआ—नहीं ।

पार्वती—अच्छा मेरी कसम खाओ ।

रघुआ—मैं किसी की कसम नहीं खाता ।

पार्वती—तो मेरे शरीर पर हाथ रख कर कहो ।

रघुआ—बस, हो चुका । अब अधिक मुझे विवश न करो ।

दोनों की बातें अभी समाप्त न हो पाई थीं कि महाराजिन ने दो थालियों में खाना परोस कर दोनों को खाना खाने को बुलाया । दोनों अठखेलियाँ करते हुए खाना खाने लगे । पार्वती ने कचौड़ी-तरकारी का एक कौर रघुआ के मीठे दूध में छोड़ दिया । रघुआ ने अपना दो चमचा मीठा दूध पार्वती की तरकारी में उड़ेल दिया । इसी तरह दोनों हँसते-हँसाते रहे ।

खाना खाने के बाद रघुआ ने माताबदल से कहा—मैं आज सिनेमा देखने जाऊँगा और जरा देर से लौटूँगा ।

पार्वती ने कहा—दादा, मैं भी जाऊँगी ।

माताबदल बोला—चली जाओ अपने रघुआ भाई के साथ । रघुआ, इसको भी साथ लेता जा ।

(६)

पाँच-वर्ष और बीत गये । न माताबदल इस संसार में है, न उसकी बुढ़िया । लेकिन रघुआ अब भी दुकान का मैनेजर है । पार्वती अब ससुराल छोड़कर यहीं अपने पिता के घर आ गई है । उसका स्वामी यहीं एक बैंक में, एकाउन्टेन्ट होकर आया है ।

रघुआ अब भी अविवाहित है । वह सदा प्रसन्न रहता है और दुकान पर बैठा हुआ पार्वती के बच्चों को खिलाया करता है । उन बच्चों को हँसाने-खिलाने में उसने अपने जीवन को मिला दिया है ।

एक बार रघुआ के सामने पार्वती ने अपनी नन्ही-सी बच्ची से पूछा—तारा, तू किस की बच्ची है, बता तो ?

तारा ने रघुआ की ओर उँगली उठा दी। दोनों निहाल हो गये। रघुआ ने अपने मन-मानस में तैरकर अनुभव किया, संसार का स्वर्ग-सुख भी, जान पड़ता है, ऐसा ही है।

पार्वती ने तारा को गोद में उठाकर उसका मुख चूम लिया। बोली—तू बड़ी रानी बिटिया है।

अशोक का घोड़ा

"सोजा—भैया, सोजा, भैया मेरा राजा बेटा है।"

—"कभी एक राजा भी था अशोक। जब वह भैया की उम्र का था, तो अपने बाबू का कहना तुरन्त मान लेता था। वह घोड़े पर चढ़ता था और जङ्गल में जाकर शिकार खेलता था।"

अशोक की आँखों पर विस्मय और आह्लाद की छाप है। होंठ उसके खिल रहे हैं, विहँस रहे हैं। जिज्ञासा उभर-उभर उठती है—"छिताल ?"

—"हाँ भैया, अशोक राजा ही नहीं राजाओं का भी राजा था। बहादुरी में अनोखा था वह।"

बालक अशोक पूछना और जानना बहुत कुछ चाहता है। लेकिन पूछता है सारे मर्म को केवल एक शब्द में—"लाजा ?"

—"हाँ, भैया, वह सबको प्यार करता था। लोग आज भी उसकी याद में आँसू गिराते हैं।"

अशोक प्यार जानता है और आँसू भी। बिना बोले उससे रहा नहीं जाता—"बाबू, प्याल औल आँछू।"

—"हाँ भैया।"

"मेरा अशोक जब बड़ा होगा, तब हम उसे घोड़ा ले आयेंगे। वह उस पर चढ़ेगा, उसके पास बन्दूक होगी और वह शिकार खेलने जाया करेगा।"

बालक की महत्वाकांक्षा जाग उठती है—"बाबू अमें अबी घोला ला दो। अम छिताल थेलेंदे।"

—"लेकिन मेरा अशोक तो अभी बबुआ है, खिलौना है।"

"बाबू अमें थिलौना ला दो। अम थेलेंदे।"

—"कल ला देंगे खिलौना, अपने राजा बेटा को। अच्छा अब सो जा। तेरी माँ सो गई है, अब तू भी सो जा।"

"अ़ोर घोला नहीं लाओदे ?"

—"घोड़ा भी ला देंगे भैया के लिये। लेकिन अब सो तो जा।"

"भैया मेरा राजा है"—थप्...थप्...थप्।

अशोक आँखें मींच लेता है। किन्तु क्षण भर बाद फिर एकाएक, जैसे चौंक कर, आँखें खोलकर कह उठता है—"बाबू घोला ला दो अम तो। अबी ला दो बाबू।"

लेकिन उस समय घोड़ा वहाँ कहाँ रक्खा था, तब उसने बात आगे बढ़ा दी—"बड़े होने पर भैया का ब्याह होगा। उसकी दुलहिन आयेगी। राजा बेटा की वह रानी होगी।"

"लानी कैछी ओती ऐ बाबू ?"

राकेश कहने को तो कह गया, लेकिन अब उसे समझाये कैसे ? उसकी अन्तर्दृष्टि पर दो चित्र बन गये—रागिणी और रानी। किन्तु फिर वह एक निःश्वास लेकर रह गया—"क्या रागिणी को वह पूर्ण रूप से, रानी का रूप दे पाया है ?"

वह कोई उत्तर न देकर अशोक को थपथपाता ही रहा।

अब अशोक सोने लगा था।

और राकेश ?

टप ! टप ! टप !

× × ×

बालक अशोक की माँ सो रही हो, सो बात नहीं है। एक फटी पुरानी रजाई ऊपर डालकर वह केवल लेट भर रही है। अशोक किसी तरह सो जाय, इसी की प्रतीक्षा में है वह। उसके सो जाने पर वह उठेगी और लाई-चना मिट्टी के बर्तन से निकाल कर स्वामी को दे देगी। कुछ पूछेगी वह उनसे नहीं। रोज-रोज पूछने से लाभ क्या है ? अगर कहीं काम मिल गया होता तो आते ही बतला न देते। इतना धैर्य उनमें कहाँ है ?

लेकिन राकेश नहीं जानता कि सचमुच रागिणी नहीं सोई है। तभी वह आते ही माँ की बगल में लेटे-लेटे खेलते हुए अशोक को सुलाने की चेष्टा करने लगा था। वह जानता है कि रागिणी आज दिन को भी सो नहीं पाई है। वह यह भी जानता है कि रागिणी कल रात भर सिलाई का काम करती रही है। एक लिहाफ उसने सी डाला है। उससे जो पैसे मिले हैं, उनकी सहायता से अशोक के लिए उसने रुईदार आधी बाँहों का सलूका बनाया है। इस तरह वह रात-दिन की हारी-थकी है। सबेरे थोड़ी-सी खिचड़ी मात्र बनाई थी। इस समय उसका भी कोई प्रबन्ध नहीं हो सका है। खाना पेट भर न मिलनेके कारण अशोक को पिलाने योग्य दूध उसके अब निकलता नहीं है। वह प्रातःकाल दो पैसे का दूध उधार ले आया था। वही उसने अशोक को पिला दिया था।

इसी समय राकेश को ख्याल आ गया, जब वह सहदेव हलवाई की दूकान से दूध ले रहा था, किसी ने कार से जाते हुए उसकी ओर देखा था। उसने उस समय मुझे क्या समझा होगा? पैण्ट में चाय और पान के दाग पड़े हैं। मैला भी कितना हो गया है? कोट को उलटवाना चाहता था, लेकिन कैसे उलटवाता? बालों में तेल नहीं पड़ा, आज चौथा दिन है। और शेव? उसने सोचा होगा, राकेश की यह रूप-रेखा उचित ही है। वही राकेश जो अभी कल तक विश्वविद्यालय में रेखा के अनन्य प्रेमी के रूप में बदनाम था।

एक निःश्वास लेकर वह रह गया।

दिन थे, जब रेखा ने पहली भेंट में ही अपनी मुस्कान उसे दी थी।

दिन थे, जब रेखा ने उसकी बगल में बैठकर "चन्डीदास" फिल्म देखते-देखते धीमे अन्धकार से भरे उस जनाकीर्ण पैलेस में, उसके कान में ऐसा कुछ कह दिया था कि राकेश सिहर उठा था। फिर कुछ दिनों बाद दोनों ने हाथ से हाथ मिलाकर एक शपथ ली थी। किन्तु फिर अकस्मात् पिता के तीव्र अनुरोध के कारण वह विवश हो गया और रेखा के स्थान पर रागिणी उसके जीवन में आ गई। रागिणी एक दूर के

रिश्ते से आई थी, और सुदूर अतीत से वह उसी की थी। उसके साथ बचपन की स्मृतियाँ थीं। विवाह का प्रस्ताव हो जाने के बाद कुछ मत-भेद पड़ गया था और वह सोचने लगा था कि अब वह उसे नहीं मिलेगी। तभी रेखा की ओर उसकी दृष्टि गई थी।

लेकिन राकेश ने जीवन-संघर्ष से कभी हार नहीं मानी है। आज भी वह हार मानने को तैयार नहीं है। यद्यपि वस्तुस्थिति यह है कि फीस दाखिल न कर पाने के कारण वह एम० ए० की परीक्षा में बैठ नहीं सका।

× × ×

रागिणी उठी और उसने लाई और चना, एक तश्तरी में लाकर, राकेश के सामने रख दिया। स्वयं वह फिर रजाई से अपने को ढँकने जा ही रही थी कि राकेश बोला—"तुम यह कर क्या रही हो रागिणी ?"

"क्यों, तुमको क्या कुछ और चाहिये ? लेकिन गुड़ भी अब नहीं रह गया है। नमक के टुकड़े मैंने रख ही दिये हैं। मिर्चा भी है।"

"लेकिन तुम ?"

"ओह ! मैं अब समझी"—जैसे जान-बूझ कर मुस्कराती रागिणी नकली इयरिंग हिलाती हुई बोली—"लेकिन मैं तो पहले ही चाब चुकी हूँ। भूख जोर की लगी थी। ढेर-के-ढेर चाब लिए हैं। ऊपर से दो गिलास पानी भी पी लिया है। अब इतनी गुन्जाइश नहीं है कि दो दाने भी और ले सकूँ। तुम बहुत भूखे होगे, सबेरे भी तुमने खिचड़ी बहुत थोड़ी खाई थी। अब तुम्हीं चबा लो। हाँ-हाँ सच ! ये लो, मेरी बातों पर विश्वास भी नहीं करोगे ?"

राकेश चुपचाप चना और लाई चबाने लगा। उसके जीवन में आज यह पहला दिन ही नहीं है। महीनों से यही क्रम चल रहा है। विश्व-विद्यालय में पढ़ने के साथ-साथ वह "दैनिक युगान्तर" के सम्पादकीय

विभाग में काम कर रहा था। पर युद्ध के कारण जब कागज मिलना दुष्कर हो गया तो पत्र का आकार घटा दिया गया। शुरू में थोड़ा बहुत अनुवाद का काम उसे मिला था, किन्तु अन्त में वह भी बन्द हो गया। प्रकाशक से जो पारिश्रमिक तय हुआ था, छः मास में भी वह वसूल नहीं हो सका। अब खेती-बारी की आय से माता-पिता का ही निर्वाह हो पाता है। कभी कुछ मिल भी सकता है, लेकिन राकेश ने अभी जीवन से हार जो नहीं मानी है। क्यों वह वयस्क हो जाने पर उनके आगे हाथ पसारे?

चार-छः झोंक चने ही अभी वह चबा पाया होगा कि उसका कण्ठ भर आया। बोला—"रागिणी तुम सोचती होगी कि मैं एक कायर और निकम्मे पुरुष को ब्याही गई हूँ। अगर तुम ऐसा सोचो तो यह बिल्कुल सच होगा। लेकिन इतना तुम जान लो मेरी राग कि अगर मैं संसार की आँखों में धूल झोंकने-मात्र की इच्छा कर लूँ तो अब भी सहस्रों रुपये यहीं बिखर सकते हैं, यहीं इसी क्षण।" वह अब चुप रह गया। एक निःश्वास भी लिया उसने। फिर बोला—"लेकिन नहीं, मैं ऐसा बन नहीं सकता।"

राकेश इतनी-सी बात कह कर चुप रह गया। पेट भर कर चने चबा कर वह उठा। पानी भी उसने ऊपर से एक गिलास पी लिया। चलते समय बोला—"एक काम से जा रहा हूँ। रात को सम्भव है देर से लौटना हो। मटरू अभी आयेगा, थोड़ा-सा दूध लेकर······। उसके आने का ख्याल रखना।"

× × ×

रात को नौ बजे होंगे। रेखा के बँगले के बाहर की बत्तियाँ अभी जल रहीं थीं। इधर-उधर देखते हुए राकेश ने उसमें प्रवेश किया। इस समय वह क्लीन शेव्ड था। सिर से लेकर पैर तक वह पश्चिमी वेश-विन्यास से सुसज्जित था। एक मित्र के यहाँ से वह पोशाक बदल कर

गया था, उसी की कार पर बैठ कर। बराण्डे में अभी उसने पैर रक्खा ही था कि रेखा उसे सामने ही देख पड़ी। देखते ही राकेश को पहचान कर उसने हाथ मिलाया। बोली—"हल्लो डियर राकेश!"

वह कुछ और कहना चाहती थी, पर शब्द नहीं फूट रहे थे। वह अपने हृदय को खोल कर दिखलाना चाहती थी, पर इसके लिए उसकी वाणी मूक हो जाती थी। उसके मन में आया कि वह कहे—तुम मुझे भूल गये राकेश। मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। वर्ष के वर्ष बीत गये और तुमने आना तो दूर रहा, एक पत्र तक नहीं भेजा! क्या तुम वही सुमधुर राकेश हो? क्या तुम वही मेरे स्वप्नलोक के आलोकित शरच्चन्द्र हो? मेरा स्वास्थ्य चला गया। मेरी आशाएँ और मेरा सुख सदा के लिए चला गया और अब तुम विदा के समय मेरे पास आये हो, अब मेरे पास और क्या है, सिवा इसके कि मैं एक राख की ढेर हूँ। तुम इसे ले सकते हो, तुम इसे अवश्य ले सकते हो!

किन्तु वह केवल एक वाक्य कह सकी और उसकी आँखें भर आयीं।

राकेश जड़ हो गया, पत्थर! वह तो प्रेम पर विश्वास नहीं करता। वह तो उसे भावुकता समझता है, प्रकृति की एक कल्पित दुर्बलता। —"तो रेखा क्या है?" क्या वह भी प्रकृति की एक दुर्बलता है? "दुर्बल तो है वह। रात में भी लगता है कि पीली पड़ गई है। लेकिन मुख की वह मांसल छवि तो ज्यों की त्यों बनी है। ओह यह बात है!"

रेखा अपने एकान्त कक्ष में उसे ले आई है। बात वह अपनी कह चुकी है। माँ पास ही खड़ी-खड़ी समझा रही है—"तू ऐसी उत्तेजित हो गई रेखा और राकेश भैया, तुमने सचमुच हमारे साथ छल किया। कितने वर्षों के बाद तुम्हें यहाँ देख रही हूँ, कुछ ठीक है! ऐसा ही करना था, तो तुमने इसको अपना प्यार क्यों दिया था? क्यों इसे अपना विश्वास, अपनी आत्मा का अवलम्ब देने की चेष्टा की थी? रेखा के

बाबू इसी सोच में चल बसे। अब इसकी बारी है। लेकिन नहीं, मेरी रेखा, अब तू जियेगी, तुझे जीना है, और जीवन का सुख देखना है।"

रेखा की माँ राकेश के सिर पर हाथ फेर रही है। उसकी वाणी काँप रही है, थरथरा रही है। कण्ठ उसका भर आया है। वह भी अब और कुछ कहेगी नहीं।

रात के दस बज गये। राकेश के लिए खाना लाया गया, लेकिन उसने खाया नहीं। बोला—"मैं खाकर आया हूँ।" रेखा की माँ ने बहुत जिद की, तो भी नहीं खाया उसने। स्वयम् रेखा ने भी अनुरोध किया, तो भी नहीं। जब से वह आया, उसने एक बात तक नहीं की। वह केवल सुनता भर रहा है। हाँ, आँसू जरूर उसकी आँखों में आ गये थे।

माँ जाकर अलग लेट रही है। राकेश चुपचाप बैठा है। बाहर पवन सी-सी कर डोल रहा है। बँगले के पेड़ों की पत्तियाँ मर्मर शब्द कर रही हैं। शोफर सो गया है और रेखा चुपचाप लेटी है। कमरे में बिजली की हल्की नीली रोशनी फैली हुई है। राकेश का मन अशोक की ओर लगा है। रागिणी का भी ध्यान उसे साथ ही आ जाता है। कभी-कभी वह सोचता है, अगर वास्तव में वह भूखी ही रह गई हो, तो……!

उसके चले जाने के बाद, थोड़ी ही देर में मटरू आया है। कहा है उसने—"दूध नहीं मिला।" हलवाई कहता है—"जब तक पिछला हिसाब चुकता न हो जायगा, आगे और सौदा न मिलेगा।"

रागिणी ने कानों के रिंग उतार कर दे दिये। कहा कि जो कुछ मिले ले आना। मटरू ने एक रुपये के वे रिंग बेचकर चार आने पाये हैं। दो पैसे का दूध लाकर शेष साढ़े तीन आने वह रागिणी को दे गया है।

बच्चा सो रहा है। दिन को दूध नहीं मिल सका था। थोड़े से चने ही उसने भी चबा लिये थे। थोड़ी-थोड़ी देर बाद मचल जाता था—"अम्मा दुद्धू" और अब जो दूध आ भी गया, तो अशोक सो रहा

है। रागिणी सोचती है क्यों न जगा कर उसे दूध पिला दूँ? किन्तु बच्चे की नींद? हाँ बच्चे की नींद क्या उसकी पूर्ति से अधिक प्यारी वस्तु है? दूध पीकर वह और भी मीठी नींद से सो सकेगा।

"अशोक-अशोक?" रागिणी उसे जगाने की चेष्टा करती हुई कह रही है—"बबुआ अरे ओ बबुआ, बेटा दूध पी ले। फिर सो जाना।

"ऊँ-ऊँ ऊँ"

"हाँ, बेटा मेरा राजा है। अशोक सम्राट् हुआ था। मेरा अशोक भी सम्राट् होगा। पी तो ले दूध।"

"दूध"—आँखें खोलता हुआ अशोक अत्यधिक प्रसन्न होकर इधर-उधर देख रहा है। फिर एक-दो घूँट पीकर "छम्लात्। अम्मा, छम्लात् कैछा ओता ऐ?"

"बेटा, सम्राट राजाओं का भी राजा कहलाता है। बड़े-बड़े राजा भी उसको सलाम करते हैं। नौकर-चाकर, महल-खजाना, फौज, हाथी-घोड़े, मोटरें, हथियार, तोपें, जहाज और देश उपनिवेश सब कुछ उसके पास होते हैं। उसे किसी चीज की कमी नहीं रहती।"

"आती-धोले, बले-बले, इत्ते बले" दो घूँट पीकर बतलाते हुए वह दोनों हाथ फैला रहा है। गुलाबी होठों से दूध के बूँद मोती-से टपक रहे हैं। बड़ी-बड़ी आँखें फैलाये वह रागिणी को बतला रहा है।

"झट से दूध पी ले बेटा, फिर सो जा। मेरा राजा दूध पी लेता है।"

"यही चाहिये मुझे, और कुछ नहीं"—रागिणी सोचती है—"मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मेरा अशोक अच्छी तरह रहे, बस। बेकार वे इतना दुःखी होते हैं। नौकरी आज नहीं मिलती न सही। हमारे घर खेत हैं। मैं खेती कराऊँगी। संकट में अपना घर ही सब कुछ है। बेकार वे कुछ और सोचते हैं। मैं कल ही उनसे कहूँगी कि चलो, अब हम देहात में चल कर रहें। लेकिन मेरे पास पहनने को दो-चार गहने

और साड़ियाँ······? गाँव, बस्ती और घर वाले क्या कहेंगे? जाते समय सौ-पचास रुपये तो होते।"

रागिणी रो पड़ी है। सिसकियाँ उभर रहीं हैं और साँस जैसे भीतर समा नहीं रही है।

अशोक अब दूध पी चुका है। रागिणी उसे सुला रही है। लेकिन आँखें उसकी अब भी आँसुओं से तर हैं।

"सोजा बेटा, अब सोजा।"

"बाबू घोला ले आयेन्दे छुबेले, इत्ता बला, उछ्के बाल ओंदे, और पूँछ ओंदी। अम तलेंदे औल छिताल थेलेंदे, बन्दूत छे। बाबू तयते थे।"

अशोक बात करते हुए हाथ फैला देता है, होंठ उसके खिल पड़ते हैं और आँखों में आह्लाद बोल उठता है। सरल और महत्वाकांक्षा से पूर्ण।

राकेश इस सारे दृश्य को जैसे अपने अन्तर्पट पर देख-देख नितान्त अस्त-व्यस्त हो उठता है। उधर रागिणी सोचती है कि काश वास्तव में वह ऐसी समर्थ होती कि अशोक के लिए घोड़ा आ सकता।

× × ×

अब मैं चलूँगा रेखा।" हाहाकार से खेलते हुए राकेश बोला—"वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

राकेश अनायास ही यह बात कह गया है। उसने पहले से कुछ सोचा नहीं था कि क्या उसे कहना है।

रेखा जानती है कि राकेश उसे इस हालत में देख कर वास्तव में दुःखी हुआ है। तभी उसने कुछ कहा नहीं। लेकिन कहने को उसके पास कुछ होगा नहीं, यह वह नहीं मानती। क्यों उसने भुला दिया उसको? यह वह सोच सकती है। पुरुष कैसा प्राणी है, इसका अनुभव उसने कर लिया है। किन्तु परिस्थितियाँ मनुष्य से ऊपर हैं, वह जानती

है, कभी राकेश ने इस पर विश्वास नहीं किया है। वह तो सदा यही कहता आया है कि परिस्थितियों के आगे हार मानना मनुष्य की कमजोरी है। परिस्थितियों का चक्र वह स्वयम् निर्माण करता है। उचित और ग्रहणीय दो में से एक क्या है, इसका निश्चय करने में जब उससे भूल हो जाती है तभी वह प्रतिकूल परिस्थिति के भँवर में जा पड़ता है।

लेकिन इस समय रेखा खोई-खोई सी-बैठी है। वह सोच रही है कि राकेश जो आ नहीं सका है, हाल-चाल भी नहीं दे सका है, उसकी ग्लानि ने उसे इस समय मूक बना डाला है, और यदि उसे वास्तव में अपने किये पर दुःख है, यदि वह सचमुच अणु-अणु को आज लज्जा में स्निग्ध, आलुत पा रहा है, तो वह क्षम्य है और हमारा ही है। शरीर उसे चाहिए भी नहीं था। लेकिन क्यों नहीं चाहिए, क्यों नहीं ? शरीर से परे आत्मा क्या है ? पर वह उसे नहीं चाहिए था, इस समय यह अगर वह मान भी ले, तो क्या वह रेखा को भी नहीं चाहिए था—रेखा को भी ?

रेखा के शरीर में अब इतनी शक्ति नहीं रह गई है कि वह चिल्ला सके। क्रन्दन का वह जो एक भीमकीय विस्फूर्जन होता है, शरीर और वाणी के कम्पन और आक्रोश से जो चारों ओर फूट पड़ता है, रेखा अब उसकी सीमा से परे जा पहुँची है। तभी काया के लहू को और मांस को वह फूँक-ताप कर बैठी है। आज वह रेखा है केवल क्षार की। कभी जो जीवन की रेखा थी, आज वह मरण की है। कभी जो तरुण उल्लास की थी, आज वह अवसान की है। उस समय जो नवल और नवागत था, आज ध्वस्त हो-होकर विगत बन गया है। आज उसमें वेग नहीं है, आँधी नहीं है, लिपट-लिपट जाने वाली वह बिजली नहीं है, झलक-झलक उठने वाली वह ज्योति नहीं है। आज तो वह तलवाहिनी प्रशान्त शीतल एक रेखा भर है। पता नहीं किस क्षण निष्पन्न हो जाय !

किन्तु इस राकेश को क्या हो गया है, रेखा सोचती है, घंटों से

बैठा है, और बोलना जैसे भूल-सा गया है। अगर उसे कुछ कहना नहीं है तो वह आया क्यों है ?

रेखा के मन में अभी यह प्रश्न आया ही था कि राकेश ने कह दिया—"अब मैं चलता हूँ रेखा। वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"अच्छा, तो राकेश चला भी जायगा। ठहरेगा नहीं।" सोचती हुई रेखा के मन में आया, लेकिन उसने तो उससे यह भी नहीं पूछा कि आज आ कैसे गये ? ठहरे कहाँ हो और कब तक रहोगे ? बात यह है कि रेखा ने केवल उसको जाना है, कभी यह तक नहीं पूछा कि तुम्हारा घर कहाँ है ? आज भी तो वह नहीं जानती कि उसका राकेश किस स्थिति में है, क्या करता है ?

लेकिन उसने तो कहा है—"वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" यहाँ "वे लोग" कौन हैं उसके ? क्या उसकी स्त्री और बच्चे भी हैं ? क्या उसने विवाह भी कर लिया है ? नहीं तो "वे लोग" कौन हो सकते हैं भला।"

किन्तु लो, रेखा ने पूछ ही दिया—"क्या इस बार माँ को भी साथ लाये हो ? कहाँ ठहराया है उनको ? यहाँ उनको क्यों नहीं ले आये ?"

भूकम्प जहाँ कल आने को हो, वहाँ अभी आ जाय, राकेश आज परवा नहीं करेगा, आज संसार में उसके लिए कोई भी ऐसा नहीं रह गया है, जिससे वह डरे। माना कि रेखा ने उसे चाहा था, लेकिन इस चाहने का अर्थ क्या है ? एक दिन उसने जैसे उसे पसन्द कर लिया था, वैसे ही वह दूसरे को भी पसन्द कर सकती थी। उस दिन राकेश के पास देखने को सब कुछ था, अपने कालेज का, अपने क्लास का वह अग्रणी छात्र था, उसकी वेष-भूषा भी एक रईस की-सी रहती थी। भीतर वह चाहे पोल ही रखता हो, पर देखने में वह किसी अमीरजादे से कम नहीं जान पड़ता था। आज भी वह जिस रूप में आया है, वह अतीत के सर्वथा अनुरूप है। किन्तु राकेश आज वास्तव में जिस स्थिति में है, क्या रेखा उससे प्रीति रख सकती थी ? माना कि मैं आ नहीं सका हूँ,

पत्र के नाम पर सचमुच एक चिट तक मैंने नहीं भेजी, उसके पास। इस अर्थ में मैं अपराधी हूँ। किन्तु प्रश्न तो यहाँ यह है कि गरीब व्यक्ति की एक अमीरजादी के साथ दोस्ती कैसी ? अच्छा, मान लिया कि दोस्ती सम्भव है, या हो ही जाय, लेकिन अनेक असमानताओं से विजड़ित होते हुए इन लोगों में यह प्रेम क्या वस्तु है ?

राकेश को आज और भी बातें याद आ रही हैं। यही वह रेखा की माँ है, जिसने मेरे नौकर से यह जान कर कि बाबू की खेती-बारी तो नाम मात्र की है अपने गाँव में मुँह सिकोड़ लिया था और कहा था—"लेकिन तुम्हारे बाबू रहते तो इतने ठाठ से हैं कि मेरी रेखा उन्हें लख-पती समझती है।" एक बार स्वयं रेखा ने भी कहा था कि फादर से अगर कहूँगी कि पचास हजार रुपये दे दीजिए, उससे हिन्दी-लेखकों की सुविधाओं का ध्यान रखने वाला एक प्रकाशन चलाया जायगा, तो वे कभी इन्कार न करेंगे। लेकिन मेरी इच्छा का ज्ञान रखते हुए भी उसने कभी अपने इस वचन को चरितार्थ करने की चेष्टा नहीं की। मैंने अगर कभी भावुकता में बहकर, प्रमाद या भ्रमवश सदा उस पर जीवन उत्सर्ग करते रहने का उत्साह प्रकट कर दिया, तो वह वचन और व्रत हो गया। उसे समझ लिया गया कि वह प्रेम की प्रतिज्ञा थी, और विवाह जो मैंने कर लिया, एक निर्धन गृहस्थ की युवती कन्या के साथ और अपना एक संसार बसाने की चेष्टा की, यही एक बहुत बड़ा अनर्थ हो गया ! तो हम गरीब लोग नैतिक दृष्टि से पतित हो गये और इन अमीर लोगों की नाक तो नैतिक दृष्टि से सदा ऊँची ही रहती है।

—"कुछ नहीं है यह सब, राकेश इस ढोंग को नहीं मानता। जब तक कोई व्यक्ति समाज में अपना वास्तविक अधिकार नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उस पर कोई भी नैतिक प्रतिबन्ध नहीं है। नैतिकता का अनु-शासन केवल गरीबों से अपना स्वार्थ साधने भर के लिए है। जो गरीब और गुलाम होता है, उसका अहङ्कार मर जाता है, उसके हाथ-पैर शृङ्ख-लाओं से जकड़े रहते हैं, वह खुल कर चल फिर नहीं सकते, हँस-रो नहीं

सकते। प्यार करना वह क्या जाने ? सम्पन्नता और स्वतन्त्रता के बिना वह पङ्गु हैं, मुर्दा हैं। जिसके पास खाने को रोटी नहीं है, जिसके शरीर में स्फूर्ति और मन में उल्लास नहीं है, उसके पास प्यार भी नहीं है। कैसा प्यार उसके लिये ? मैं पहले रोटी चाहता हूँ, प्रेम नहीं। प्रेम तो तुम लोगों का ढकोसला और तमाशा है, जिनके कुत्ते मक्खन चुपड़ा टोस्ट चाभते हैं। रेखा मर रही है, मर जाय ! कोई गरीब डोम उसकी लाश पर से दुशाला पा जायगा तो उससे उसकी बीबी-बच्चों का तन तो कुछ ढंक जायगा। दुनियाँ में सहस्रों आदमी रोज मरते हैं। रेखा के मरने से उस संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जीवन को समझने में अगर किसी ने कोई गलती की है, तो उसका दुष्परिणाम वह खुद भोगे। किसी दूसरे व्यक्ति पर उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है। रागिणी के पास कुछ नहीं था, उससे हमको अशोक मिला है, और मैं अपने में खुश हूँ, पूर्ण हूँ। रेखा के पास सब कुछ था, लेकिन उसने कुछ न देकर केवल एक विकार दिया है, एक भ्रम। राकेश को वह न चाहिए। वह उससे कुछ नहीं चाहता।

आज राकेश की आँखों में करुणा नहीं है, दया नहीं है। ये चीजें तो मनुष्य में तभी तक रहती हैं, जब तक वह अपने जीवन में एक प्रकार का सुख-सन्तोष देखता है। राकेश अपने को उस स्थिति से परे देख रहा है। आज न्याय के नाम पर उसकी मानवता पिशाच हो जाना चाहती है। नहीं तो मरण के घाट पर पहुँचती हुई नारी के समक्ष उसका सारा विद्रोह शान्त हो जाता।

अब भी राकेश की आँखें तनी हुई हैं। अब भी वह हाहाकार की लपटों से खेल रहा है। चेस्टर की जेबों में हाथ डालकर वह खड़ा हो गया, और बोला—"मैंने विवाह कर लिया है रेखा,...मेरे एक बच्चा भी है।"

"सचमुच ? अरे वाह" विस्मय और वेदना, आनन्द और वात्सल्य में डूबी रेखा बोली—"तुम कहते क्या हो, डियर !"

…"अब मैं तुम्हें जाने न दूँगी। कल सबेरे मैं स्वयं तुम्हारे घर चलूँगी और दीदी को देखूँगी। मैं बेबी (बच्चे) को खिलाऊँगी। अब आज की रात यहीं रह जाओ। चाहो तो सूचित कर दो आदमी भेज कर। ठीक तो है, शोफर से कह दो, वह लौट जाय।"

राकेश बैठ तो गया फिर कुर्सी पर, परन्तु उसकी आँखें अबकी बार नीची हो गईं। उसके विवर्ण हो रहे मुख पर अब एक पराजय की छाया खेलने लगी। वह सोच रहा था—'इस बात को सुनकर रेखा मूर्छित हो जायगी। सम्भव है, समाप्त ही हो जाय। लेकिन उसका मुख इस समय कितना उज्ज्वल है, आनन्द से जैसे पागल हो गई हो—तो ईर्षा और द्वेष, स्पर्धा और विद्रोह से परे होकर यह रेखा कुछ और है क्या?'

राकेश के मन में अभी यह मन्थन चल ही रहा था कि रेखा बोली—"मौन क्यों हो रहे? उठो और शोफर से कह दो। वह अब जाय। हम लोग कल सबेरे आयेंगे। बड़ी दूर भी तो है, शहर यहाँ से? रात अधिक हो गई और जाड़ा कितना है? जाओ, उठो। अच्छा बैठे रहो। मैं नौकर बुलाती हूँ।" उसने पुकार की घंटी का इलेक्ट्रिक स्विच दबा दिया।

× × ×

अशोक सो रहा है लेकिन उसके होंठ काँप रहे हैं कण्ठ से शब्द फूट रहे हैं और मुख पर आनन्द की रेखाएँ उभर रही हैं।

"अम् घोले पर तलेंदे छिताल थेलेंदे, अम् बन्दूत तलायेंदे…छम्लात् बनेंदे।

रागिणी के आँखों के आँसू उसके गुलाबी कपोलों पर आ-आकर सूख गये हैं। शरीर उसका ऐंट-ऐंठ उठता है, रोम-रोम काँप रहा है, मस्तक जल रहा है और हाथ-पैर शिथिल से होते जान पड़ते हैं। तो भी वह सोते हुए अशोक का मुख चूम-चूम लेती है। वह उठती है, और

द्वार पर खड़ी होकर देखती है और गिर पड़ती है, फिर काँपती हुई उठती है, और किसी को कल्पना में देख-देख कर गिर-गिर पड़ती है।

अशोक सो रहा है लेकिन आनन्द से उछल-उछल पड़ता है। धुधली रोशनी में रागिणी उसकी ओर ताकती और एक-टक देखती रह जाती है।

"घोला लेंदे। बन्दूत······छम्लात्? घोला!······घोला? बन्दूत। छम्लात्?

रागिणी पास ही पड़ी सिसकियाँ भर रही है और तड़प रही है।

रागिणी उठ बैठी है और अशोक के सिर पर हाथ फेर रही है। आँसू टप-टप गिर रहे हैं।

रागिणी की आँखों के पलक मुँदे हुए हैं। उसे नींद आ रही है।

× × ×

—जिसे सब कुछ कहना चाहिए था, वह अब भी चुप ही है क्यों? —रेखा यह जानती है। अग्नि जो उसके हृदय में धधक रही है, लपटें न उठाकर सुमन बिखेरती है।

—"तुमने सोचा होगा राकेश, रेखा को तुमसे शिकायत होगी, लेकिन तुमने यह नहीं सोचा कि वह तुम्हें कितना जानती है। वैभव और सौन्दर्य के दम्भ के आगे राकेश ने कभी हार नहीं मानी, क्या मुझे यह जानना बाकी रह गया था? क्या मैं इतना भी नहीं जान पाई थी कि तुम मुझसे कभी विवाह नहीं करोगे? ऐश्वर्य और विलास के संस्कारों में पली नारी से विवाह करना कभी तुम्हारे लिए सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ तक तो बिल्कुल ठीक रहा, किन्तु मैं यह नहीं जान सकी थी कि तुम मुझे भूल ही जाओगे। कभी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि प्रेम-राज्य में गरीब और अमीर का भेद तुम्हें मुझसे इतनी दूर ले जाकर खड़ा कर देगा कि मैं तुम्हें देख भी न पाऊँगी!"

रेखा धीरे-धीरे ठहर-ठहरकर कह रही थी। वाक्यों के टुकड़े बनते थे और शब्द केवल कण्ठ, तालू और होंठों से न फूटकर आँखों की पुतलियों, पलकों और मुख की रेखा से भी अपना आवेग और आलोक बिखेर देते थे। कभी जो कसर रह जाती, तो पूर्ति के लिए थोड़े-से आँसू भी रेखा के पास बच रहे थे।

राकेश अब रेखा की इस बात को सुनकर चुप नहीं रह सका। पूर्ववत् दृढ़ रहकर स्थिर भंगिमा से वह बोला—तुम्हारा ख्याल गलत है रेखा ! संसार को तुम प्रेम का राज्य कहती हो, लेकिन कहाँ है प्रेम ? जिनके पास तन ढँकने को कपड़ा और पेट भरने को रोटी का टुकड़ा नहीं है, किसने दिया है उनको प्रेम ? मुझे तो कहीं भी देख नहीं पड़ता। जीविकाहीन मरभुखी जिन्दा लाशों में प्रेम देखने की यह चेष्टा कोरा प्रमाद है रेखा !"

कुछ क्षण के लिए रेखा चुप रह गई। उत्तर वह खोजना चाहती थी, किन्तु उसे मिलता नहीं था। राकेश तब स्वयम् ही बोल उठा। लेकिन अब की बार वह उठ खड़ा हो गया, कुर्सी के पीछे हाथ टेककर।

—"कहना चाहो तो कह डालो रेखा, कि जो गरीब है और सच्चा है, उसे परम पिता का प्रेम प्राप्त है। लेकिन है यह एक अन्धविश्वास।" बात कह रुक राकेश एकाएक चुप हो गया। चुप तो हो गया, लेकिन भीतर ही भीतर उसके आगे भी कहता गया—"प्रमाद और मानसिक दासत्व की शृङ्खला में विजड़ित। इसमें कहीं गति नहीं है, जीवन नहीं है। महानाश की सृष्टि की है इसने। मानव को सदा परमुखापेक्षी और पंगु ही देखा और समझा है इस दृष्टि ने। जीवन में सुकुमार वृत्तियों का विषाद और रुदन ही इसने फैलाया है। जब कि मनुष्य में विद्रोह भी कुछ है, विषधर का-सा फूत्कार भी वह करता है, दानव बनकर वह परिस्थितियों से ऊपर भी अपने को देखना चाहता है, जीवन ही ने उसका निर्माण नहीं किया, वह स्वयं भी जीवन का निर्माता है।"

खैर, जाने दो—रेखा बोली—तुमने बहुत अच्छा किया। लो अब तो खुश हो, बुरा अगर कुछ किया, तो इतना कि आज भूल पड़े। क्यों।"

"सचमुच, मैं अपने को भुलाने आया हूँ, रेखा।"—राकेश कहते-कहते आप ही द्रवित हो उठा—"लेकिन देखता हूँ भूल नहीं सकता।"

× × ×

यह प्रभात है। होली का प्रभात।

रेखा पालकी गाड़ी पर बैठी राकेश के साथ जा रही है। साथ में उसकी माँ भी है।

सड़क पर गाड़ी खड़ी कर दी गई है। एक सँकरी और गन्दी गली के भीतर आगे-आगे राकेश जा रहा है, और पीछे-पीछे उसके कन्धे पर हाथ रक्खे—"धीरे-धीरे रेखा!" उसकी माँ ने नाक में रूमाल लगा लिया है। वह कहती जाती है—"यहाँ कहाँ तुम रहे आकर, भला तुमको यहाँ रहना चाहिए था?"

फिर भी किसी तरह सब लोग घर के अन्दर पहुँचे।

किवाड़ खुले पड़े हैं। लालटेन अब भी जल रही है, यद्यपि धुएँ से काली पड़ गयी है। कोठरी के फर्श में पुआल बिछा है और रागिणी लेटी हुई। उसकी साड़ी फटी हुई है और मैली इतनी है कि कीचड़ के वर्ण की हो रही है। रजाई और बिछावन की भी यही गति है।

पिता को देखकर अशोक उसकी टाँगों में लिपट जाता है और ऊपर उसके मुख को ओर देखकर कहता है—

"............"

"बाबू, अम्मा छोती एँ। उथाओ उन्तो। उथाओ बाबू?"

"............"

"बाबू तुम अमें घोला नई लाये? बोलो बाबू।"

लेकिन राकेश चुपचाप खड़ा आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देख रहा है।

रेखा ने अशोक को गोद में लेने की चेष्टा करते हुए कहा—"आ जा मेरे राजा बेटा, मैं तेरे लिए घोड़ा लाई हूँ। खूब बड़ा-सा घोड़ा। और यह एक (दस हजार रुपये का) चेक है। यह रहा लिफाफे में।

"लेकिन यह बात क्या है? रागिणी के बदन पर रजाई नहीं है।" सभी लोग क्रम-क्रम से एक ओर देखते हुए जैसे अपने आपसे पूछ उठते हैं—"मुख उसका तकिये पर खुला हुआ रक्खा है। वह एक ओर थोड़ा लटक भी गया है। उस पर मक्खियाँ भिनक रहीं हैं। पास ही ढेर-की-ढेर फेनिल राल पड़ी हुई है।"

दूसरे दिन वहाँ छपे रंगीन कागज के कुछ टुकड़े मात्र रह जाते हैं! और राकेश, अशोक को कभी छाती से दबाये और कभी कन्धे पर बिठाये, सरपट चाल से एक ओर चला जा रहा है—चला जा रहा है!

———

राज पथ

कान खोलकर सुन लो अनामिका, मैं रूढ़ियों के समक्ष किसी प्रकार सिर नहीं झुकाऊँगा। मैं परम्पराओं के खूँखार नाखूनों से अपनी छाती का मांस कदापि न नोचने दूँगा। मैं तुम्हारे साथ ही नहीं—मैं किसी के साथ भी—ब्याह नहीं करूँगा। मैं ब्याह करूँगा ही नहीं।"

ये शब्द थे, जो उमानाथ चलते क्षण अनामिका से कह गया था।

"मैं भी समाज के समक्ष उसकी तर्जनी का उपहास-संकेत उसकी आँखों की कुटिल किरकिरी, उसके जहरीले तीरों का क्रूर निशाना और उसके रात-दिन की बहस की सस्ती खाद्य सामग्री कदापि न बनूँगी। मैं अपने नारीत्व को अवैध और अपनी संतान को वंशगत उत्तराधिकार से वंचित, दरवाजे-दरवाजे का भिखारी कभी न बनने दूँगी। मैं रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ने का आन्दोलन भले ही करूँ—लेकिन उस आन्दोलन की वीभत्स प्रतिक्रियाओं का अपने जीवन को शिकार किसी तरह बनाना पसन्द न करूँगी।"

ये शब्द थे जो अनामिका ने उमानाथ के उपयुक्त कथन के उत्तर में कहे थे।

पर झगड़ा इससे बढ़ता ही गया। उमानाथ ने कह दिया—"यह तुम्हरी साफ-साफ गद्दारी है, समाजिक क्रान्ति के एक सैनिक के साथ।"

और इसके उत्तर में अनामिका ने और भी तीव्र स्वर में कहा था—"एक विराट् जन समूह के साथ आगे-आगे चलते-चलते, महलों की ऊँचाई देख-देखकर पूँजीवाद के नाश का नारा लगाने के बदले जो केवल अकेले जलकर उन महलों पर तम्बाकू की एक पीक मात्र छोड़ देने भर से अपने आपको महान् क्रान्तिकारी समझ लेते हैं, आज का सभ्य जगत उन्हें एक क्षण को भी क्षमा नहीं करेगा।"

पर इन कथनों से भी झगड़ा शान्त नहीं हुआ। क्योंकि—"जब तक क्रान्ति सफल नहीं हो जाती, तब तक हर एक क्रान्तिकारी को समाज का यह तिरस्कार तो सहना ही पड़ता है।"

"क्रान्ति सामूहिक विद्रोह का नाम है। व्यक्तिवादी सामाजिक विद्रोह कभी क्रान्ति का पद नहीं प्राप्त कर सकता।"

"विद्रोह को सामूहिक बनाने के लिए पहले उस व्यक्ति को ही आगे बढ़ना पड़ता है, जो क्रान्ति-स्रष्टा होने के साथ-साथ एक चिन्तक और विचारक भी होता है।"

"जहाँ राजनैतिक क्रान्ति के लिए यह एक अमिट सत्य है, वहीं पर सामाजिक क्रान्ति के लिए यह एक ऐसी भ्रान्ति है, जिसने लाखों घरों में पावन दीपमालिका के दिन भी स्नेहरश्मि और आलोक का एक दीप तक नहीं जलने दिया।"

"मैं उन कायर लोगों में से नहीं हूँ अनामिका, जो तर्क से हार मानकर अपना निश्चय बदल डालते हैं।"

"मैं भी उन मूर्ख लोगों में से नहीं हूँ, जो जिद्द को दृढ़ता, हठ को संलग्नता और दुस्साहस को वीरता मानकर घमंड से फूल उठा करते हैं।"

"अच्छी बात है। आज से हम लोगों का रास्ता अलग होता है।"

"यह मैंने उसी दिन सोच लिया था, जब तुमको मैंने जान बूझकर नाराज कर दिया था।"

× × ×

आज क्यों इस समय आकाश कुछ-कुछ धुएँ के रंग का हो रहा है? क्यों कहीं गहराई जो थोड़ी देख पड़ती है, उसमें कालिमा अधिक बोलती है और क्यों कहीं हल्कापन जो लक्षित होता है, तो धुँधलापन भी उजला-उजला-सा लगता है। क्यों घनों की यह श्यामता कोरों पर आकर श्वेत झलक मारती है। क्यों बीच-बीच में उजले-उजले धब्बे ऐसे फूटे

पड़े हैं; जैसे कोई विद्युत-पिंड हों। नगर के बीच लम्बी-लम्बी अट्टालिकाओं के ऊपर हरीतिमा की जो ऊँची-नीची पंक्ति देख पड़ती है, वह नीम के सघन वृक्षों की शिरोराशि क्यों है? क्यों धीरे-धीरे संध्या रजनी के दुकूल में छिपी जा रही है और क्यों चंचल विहँगावलियाँ दक्षिण से उत्तर की ओर द्रुत गति से उड़ी जा रही हैं।

केवल इसलिए कि मेरी अनामिका इस नगर में कहीं आयी है। मुहाल, सड़क, गली और उसके प्रत्येक मकान में खोज आया; लेकिन कहीं भी उसका पता नहीं चला।

सड़क पर स्थित एक कोठी के ऊपर खड़ा-खड़ा उमानाथ यही सोचता-सोचता नीचे उतर गया और फिर टहलता-टहलता अदृश्य हो गया।

× × ×

घन्टे भर से वह घनश्याम के कमरे में बैठा था। आते क्षण उसने अभिवादन मात्र किया था। बैठने पर कुछ बोला नहीं था। कभी कोई पत्र-पत्रिका उलटता रहा, कभी एक झटके के साथ उठकर कमरे से बाहर चला गया और लम्बी छत के किनारे जा खड़ा हुआ। कभी उधर से आते ही बोला—"एक गिलास जल।" जल पी लेने पर फिर चुप हो रहा। छत के किनारे जाकर उसने क्या देखा, क्या पाया, क्या अनुभव किया, किस को आँखों की अपलक दृष्टि में भरता रहा और किसको देख पड़ने पर भी नहीं देखा, छोड़ दिया, भूल गया—कुछ भी घनश्याम की समझ की कोर से नहीं छू पाया तो उसने पूछा—"चाय पियोगे?"

उत्तर मिला—'चाय?' और साथ ही उमा फिर कुछ सोचने-सा लगा। फिर बोला—"नहीं, अब नहीं पी सकूँगा।"

आश्चर्य के साथ घनश्याम ने पूछा—"आखिर क्यों?"

उत्तर में उमा मुस्कराने का प्रयत्न करने लगा। पर घनश्याम को कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे इस मुस्कराहट पर आँसुओं के धागों से बनी

हलकी-फुलकी, झीनी-झीनी, पवन-दोलन से लहराती मन्द-मन्द हरी छाया का परदा पड़ा हुआ है।

फिर भी घनश्याम ने अपने छोटे भागिनेय गणेश से कह दिया—

"चाय तो बनाओ गनेस। और देखो, स्ट्रॉङ्ग बनाना। अच्छा।"

× × ×

अब बत्तियाँ जल गयी हैं। सड़क पर रोशनी, हाँ रोशनी काफी है। बैलगाड़ियाँ जा रही हैं और बैलों के गले में घंटियाँ बँधी हुई बोल रही हैं। बैलगाड़ी कोठी के सामने से आगे भी बढ़ गयी है। लेकिन घंटियों का रव अब तक आ रहा है। मेरी अनामिका की कोमल मधुर आवाज की तरह, जो मुझे अब भी सुनायी पड़ रही है।

पहिया जरा धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। ठेला भरा भी तो खूब है। एक-दो-तीन······अरे, बीस बोरे होंगे ये सब ! बल्कि बाइस। आगे-आगे भैंसा, पीछे मजदूर। लेकिन ये ठेले वाले क्या बदन में तेल चुपड़ कर बाहर निकलते हैं ! अन्यथा इनके पुट्ठों पर यह काला-काला चमकता-सा क्या है······।

हारमोनियम लेकर दो बच्चे गाने निकले हैं। एक अठारह साल का होगा। दूसरी एक छोकरी है। वह अभी ग्यारह की होगी।

लड़के ने टीप लगाई—"मैना तोरे नैना बेदरदी बड़े।"

और छोकरी ने बीच में ही उसे कटी पतंग की तरह दौड़कर, उछल कर, झपट्टा मारकर, हस्तगत कर लिया—"कि सैंया तोरे नैना बेदरदी बड़े!"

छी-छी ! यह हमारी नयी पौध का नव निर्माण हो रहा है।···ठेले वाला अब भी चला जा रहा है, खटर-खटर। और वह काला-काला-सा जो उनके बदन पर चमक रहा था वह तो पसीना है यार ! हिश···मैं भी क्या उजबक बन गया।

किन्तु बीस बोरे यानी पचास मन बोझ ढोने वाला आगे-आगे भैंसा,

पीछे-पीछे ठेलेवाला, दोनों ढो रहे हैं। एक पशु है दूसरा मनुष्य। लेकिन यह मनुष्य कैसा है, जो पशु का काम कर रहा है। क्योंकि मनुष्य नाम-धारी एक ऐसी जाति हमारे बीच बन गयी है, जो मनुष्य से पशु का काम लेना जानती है। और मनुष्य जो पशु-वर्ग का काम करता है, उसकी अपनी जिम्मेदारी कुछ नहीं है।······नहीं-नहीं-नहीं। कुछ नहीं है। क्योंकि देश के सुख-दुख के ठेकेदार जब मोटरों अथवा वायुयानों पर चलते हैं, तब उनके मस्तिष्क में योजनाओं की सफलता के स्थान पर वक्तव्य—केवल वक्तव्य की कल्पनाएँ रहती हैं।···'यह छोकरी है तो कोयले के जाति की, मगर गले की धार इसकी चलती कटार-सी है।'—उहँ! सड़क पर आने-जाने वाले क्या नहीं बकते? मगर इससे हमारी जनता का मानसिक स्तर तो झलकता ही है।

× × ×

कुछ परेशान-सा घनश्याम पूछ रहा था—"कहाँ गये उमा बाबू? कुछ कह के नहीं गये। तुमने देखा तो होगा ही, उनको नीचे जाते हुए।"

"मैंने तो नहीं देखा मामा जी।" गणेश का सीधा-सा उत्तर था।

लेकिन तुम समझे नहीं कि मैंने प्रश्न क्या किया। मेरा मतलब यह है कि जब कोई अपने यहाँ से जाने लगे, तब उसको देखना तो चाहिये।"

"पर जाने वाले को मैं कैसे देखता रह सकता हूँ। क्योंकि कौन आता है और कौन जाता है, यह देखने के सिवा मुझे और काम भी रहते हैं।"

"गणेश कहता तो ठीक है।" घनश्याम सोच रहा था—"लेकिन फिर उमानाथ की थाम? कुछ समझ में नहीं आता कि इस आदमी से कैसे व्यवहार किया जाय। अरे पूछो, तुमको अगर कृष्णमुख करना ही था, तो तुम मुझसे कह कर ही करते।"

इतने में आवाज आयी—कुट् कुट् कुट्।

घनश्याम ने आँख से संकेत किया—देखो तो कौन है?

गणेश झट द्वार की ओर दौड़ गया। पर दरवाजा खोलते ही बेचारा भौचक्का-सा रह गया।

क्षीण, महीन और दुर्बल स्वर में एक सम्भ्रांत नारी ने पूछा—"घनश्याम जी हैं?"

"हैं तो। पर आप······आपके परिचय के सम्बन्ध में!"

"परिचय? परिचय मेरा उनसे नहीं—तो क्या मैं उनसे मिल नहीं सकती?"

"तो फिर······" गणेश के कहने भर की देर थी कि वह युवती आगे बढ़ गयी।

केश बिखरे तो नहीं कहे जा सकते, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है, कंघी का उपयोग किये हुए देर हुई। श्वेत साड़ी से तन ढका है। जूतियाँ श्वेत हैं, लेकिन उनमें सुनहरा काम सौन्दर्य की झलक मारता है। एक कलाई में सोने की घड़ी, दूसरी में सुनहली तीन चूड़ियाँ हैं। ब्लाउज श्वेत है और उसमें श्वेत बूटे बने हुए हैं, कानों में श्वेत हीरे चमक रहे हैं। वस्त्रों के ऊपर "फर क्लाथ" का ओवरकोट पहने हुए है। हाथ में पर्स है। अँगुलियों में केवल कनिस्ठिका के नख गहरे लाल झलकते हैं। बायीं आँख के नीचे—बल्कि कोर पर एक तिल है। बरौनियों के नीचे श्यामता झलक मारती है। बदन छरहरा, वर्ण गेहुआँ और कटोरे से नयन। किन्तु इन सब में नासिका अत्यन्त सुन्दर है। और होंठ बड़े प्यारे हैं।

देखकर घनश्याम चक्कर में पड़ गया। पर उसी क्षण सम्मुख उपस्थित होते ही हाथ जोड़ कर युवती ने पूछा—"उमेश जी आपके यहाँ······?"

घनश्याम को पता है कि उमा कभी-कभी 'अपने उमेश' नाम का भी उपयोग करता है। फिर भी बोल उठा—'उमेश! उमेश नाम तो अच्छा है। पर खेद है, इस नाम का कोई व्यक्ति मेरे यहाँ नहीं रहता।"

युवती बोली—"रहते जरूर होंगे। ज्यादा ऊँचे कद के नहीं हैं।

खादी का कुरता और सेकंड्स न्यू माडल की रिस्टवाच पहनते हैं। अनेक बातों का उत्तर सिर्फ आँखों के पलक ऊपर करके और बहुत हुआ तो एक हल्का मुस्कान झलका कर देते हैं। निश्चित समय पर कभी नहीं आते; पर अनिश्चित समय पर आने में कभी हिचकते नहीं, अक्सर गुनगुनाते ही रहते हैं। रंग खूब गोरा है। अभी हाल ही में एक बादामी बैग खरीदा है। नीलाम की अँगूठी पहने भी आपने कभी देखा होगा।

घनश्याम इस लम्बी परिभाषा को सुन कर हँस पड़ा। बोला—"वाह आप तो......"

"उमानाथ की एक सजीत डायरी है......बैठिये, बैठिये।"

इतने में गणेश बोल उठा—"चाय मामा जी।"

तब घनश्याम ने कह दिया—देखिये, थे तो वे यहीं कहीं अभी। बल्कि हमने उन्हीं के लिए चाय तैयार करवायी। पर जान पड़ता है, कहीं रम गये हैं। या तो किसी से बात करने लगे, या किसी दृश्य का मुलाहिजा फरमाने में दुबले पड़ते जा रहे होंगे!

सुनकर युवती हँसने का उपक्रम करने लगी। लेकिन हँस पायी नहीं। बोली—"आप का नाम अक्सर सुना करती थी। आज दर्शन भी हो गये। अच्छा, अब मैं चलती हूँ।" कहती-कहती युवती उठकर खड़ी भी हो गयी।

घनश्याम बोल उठा—"नहीं नहीं। इस तरह आप नहीं जा सकेंगी। गणेश चाय ले आओ आपको।"

× × ×

उमेश सीढ़ियों से ऊपर चला आ रहा था। इतने में उसे खयाल आ गया कि सराफे की जिस दूकान पर वह बैठा हुआ था, उसमें अपना बैग भूल आया। तब उसे फिर लौटना पड़ा।

अर्थात् यदि वह युवती घनश्याम के निकट चाय के लिए रोक न ली गयी होती और यह उमानाथ सराफे में बैग न भूल आता, तो युवती तो ऊपर से नीचे आती होती और उमानाथ उसी सीढ़ी के मार्ग से खरामा-खरामा ऊपर की ओर चढ़ता चला आ रहा होता। और तब एक साथ दोनों-के दोनों एक दूसरे पर बर्स्ट हो पड़ते। लेकिन जान पड़ता है, होनहार को यह दृष्य भी कुछ जँचा नहीं।

उधर उमानाथ जब चढ़ी हुई सीढ़ियाँ उतरने लगा, तो उसे ध्यान आया कि इस तरह मेरा यह सीढ़ी उतरना अर्थात् पीछे जाना भी—अगला कदम ही है।

तब वह जैसे मन श्री मन मुस्करा उठा। वह सोचने लगा कि जो गलितयाँ ज्ञान अथवा अज्ञान में हमसे प्रायः हो जाया करती हैं, वे हमको जितना पीछे ले आती हैं, उनकी ये प्रतिक्रियाएँ हमको उससे भी कहीं अधिक आगे फेंक देती हैं। तो क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि गलतियाँ भी अपनी प्रगति ही की सामयिक भूमिकाएँ होती हैं। यद्यपि अनामिका क्या सोचती होगी, यह और बात है।

सीढ़ी उतर कर वह जो फाटक पर आया, तो उसे एक खाली ताँगा जाता हुआ देख पड़ा। तब वह संकेत से रोक कर इतमीनान के साथ उस पर स्थापित हो गया। ताँगा उसे लेकर तेजी से बढ़ने लगा तो उमानाथ सोचने लगा—मैं अपनी अनामिका के साथ—ब्याह करके उसे दाल-भात बनाना कभी पसन्द न करूँगा। वह मेरे लिए चमन के अंगूर और दसहरी आम-सी मीठी और उर्वशी से भी अधिक छविमयी, फूल से भी अधिक कोमल, दुर्वासा ऋषि के आश्रम की शकुन्तला-सी भोली, पानी से भी अधिक पतली और आग से भी अधिक तेजस्विनी है।

युवती की आँखों पर उदासी छायी है। वह कुछ कहना नहीं चाहती; क्योंकि कुछ हो, उमा जिस प्रकार उसका आत्मीय है, यह घनश्याम तो हो नहीं सकता।

और घनश्याम इस विषय में कुछ पूछना नहीं चाहता। युवती स्वतः भले ही कुछ कह दे। वह सोचता है कि इतना ही कौन कम है कि वह अपनी मान-मर्यादा भूल खोजती-खोजती यहाँ आ पहुँची।

फिर भी चाय पीते-पीते यकायक घनश्याम के मुँह से निकल ही गया आयेंगे तो मैं उनसे कह दूँगा कि आप स्वयम् आयी थीं। फिर चुप रह गया। लेकिन नाम जानते हुए भी जान बूझ कर कहने लगा—"पर क्षमा कीजियेगा—अपना शुभ नाम तो बतलाया नहीं आपने ?"

खड़ी होती-होती युवती न चाहती हुई भी किंचित हँस-सी पड़ी। बल्कि एक तरह का तेवर-सा झलकाती हुई बोली—"बुरी न मानियेगा, नाम उन्होंने अपना जरूर बतलाया होगा। हम लोगों की बात दूसरी है। आप लोग अपने मित्रों से हम लोगों की बातें छिपाना अभी सीख नहीं पाये। वैसे नाम मेरा अनामिका है।"

घनश्याम सुनकर कुछ उद्वेलित-सा हो उठा। ऐसा जान पड़ा, मानों उसका रोम-रोम एक बार एक छोर से दूसरे छोर तक पुलकान्वित हो उठा है। तभी विवश होकर वह भी उठ खड़ा हुआ। बल्कि अनामिका को विदा करने के लिए द्वार तक पीछे-पीछे चला भी आया।

अनामिका जब सीढ़ी उतरने लगी तो घनश्याम बोला—आप से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। विशेष रूप से यह देखकर कि आपको, इस प्रसङ्ग से, मेरे यहाँ आने में कोई संकोच नहीं हुआ। हमारे देश में अभी तक कम से कम आपकी जाति में इतना साहस प्रायः कम ही देखने में आता है।"

अनामिका चलते क्षण यों भी अत्यन्त गम्भीर हो उठी थी। फिर घनश्याम ने उसकी इतनी प्रशंसा कर दी। तब अनामिका प्रतिक्रिया सँभाल न सकी। कुछ अन्यमनस्क-सी होकर बोली—"लेकिन मेरी प्रार्थना है कि अब आप उनसे यह बात प्रकट न कीजियेगा कि कोई भटकता-भटकता यहाँ तक आया भी था—उनके लिए।"

घनश्याम तब जैसे आँखें फाड़ कर जाती हुई अनामिका की ओर एकटक देखता रह गया। यकायक उसकी समझ में ही न आया कि क्यों यह नारी उमा से यह बात छिपाना चाहती है जब छिपाने की बात करते हुए आँखें उसकी पीड़ा प्रकट कर देती हैं।

× × ×

सराफे की दूकान का नाम पड़ता है, कामताप्रसाद गोकुलप्रसाद। और गोकुलप्रसाद उमानाथ का सहपाठी है। बचपन में दोनों साथ-साथ स्कूल से लेकर कबड्डी तक में एक-दूसरे को मात देते रहे हैं। उमानाथ जब उसकी दूकान पर अपना बैग भूलकर चला आया, तो गोकुलप्रसाद ने उसे अपने भतीजे से यह कहकर कोठरी के अन्दर रखवा दिया कि फिलासफर साहब चिड़िया की तरह पंख फड़फड़ाते हुए—अभी नमूदार होते हैं। लेकिन थोड़ी देर लटकाये बिना मजा न पैदा होगा।

और उमानाथ ताँगे पर जाता हुआ मन ही मन यह उक्ति सोच-कर खुश हो रहा था कि ताड़ से जो गिरा खजूर में अटका रह गया। लेकिन लाड़ से जो गिरा तो नवाब का बेटा चिड़ीमार बन गया। और वह अपने आप पर इस तरह हँस पड़ा कि अन्त में रो पड़ा।

और थोड़ी देर में ताँगे वाले ने कहा—लीजिये सरकार आ गया यह आपका सराफा।

लेकिन उमानाथ सड़क की शकल देख हक्का-बक्का-सा हो गया। बोला—लेकिन यह तो सराफा नयागंज है बड़े मियाँ! मैंने यहाँ लाने के लिए कब तुमसे कहा था?

बड़े मियाँ बोले—सरकार कलक्टरगंज के नुक्कड़ पर खड़े थे और मुँह था जनाब का गंगाजी की तरफ। अब सराफे को नयेगंज का बरखुरदार अगर मैंने समझ लिया, तो खता माफ हो, क्या कुसूर हुआ हुजूर की जूतियों के तुफैल का?

उमानाथ हँस पड़ा। बोला—अच्छा-अच्छा ठीक है। अब सराफा चौक ले चलो।

अनामिका अपनी गाड़ी की स्टियरिंग पर हाथ रक्खे खिन्नमना लौटी जा रही थी। आगे-आगे जो ताँगा जा रहा था, उसमें बैठी नारी के वक्ष से लगा उसका चाँद खिलौना कंदुक-से एक का दुग्धामृत पान करता हुआ दूसरे से खेल कर रहा था।

अनामिका देखकर सिहर उठी। उसके मन में आया—वे तो कहते हैं कि शिशु-पालन की जिम्मेदारी तीस से पहले कोई नारी निभा ही नहीं सकती। उहँ! उनके कहने से क्या होता है! यों तो यह संसार नरक का कुण्ड है। इसके अन्दर एक ये बाल-गोपाल ही तो हैं ऐसे जो इस धरती को स्वर्ग बना देते हैं!

लेकिन वे तो कहते हैं कि हम विवाह ही न करेंगे। मुझे पिता की सम्पत्ति न चाहिए।...हूँ। उन्हें न चाहिए—न चाहें वे। लेकिन जब चाहने वाले जन्म लेंगे, तब उनके अधिकारों की हत्या मैं कैसे होने दूँगी!

और वे कहते हैं—मुझे उन लोगों का समाज न चाहिए, जो पारस्परिक मनोभावों, आत्मगत आकर्षणों, आह्वानों, निमन्त्रणों और प्रतिदानों को वास्तविक विवाह न मानकर सात फेरों को ही विवाह मान बैठते हैं।

'उनका सिर फिर गया है। मुझे उनसे इसी विषय पर तो बातें ही करनी हैं। हमें जिन लोगों के बीच में रहना है, उनके संस्कारों का भी ध्यान रखना ही पड़ेगा। मैं यह कभी पसन्द न करूँगी कि कोई हमें रखैल कहे। मैं उसकी जीभ खींच लूँगी।

उधर ताँगे पर बैठा हुआ उमानाथ सोच रहा था—

क्रान्ति सचमुच अकेले नहीं की जा सकती। अनामिका ठीक ही कहती थी। और हिन्दुस्तान जैसे देश में विवाह प्रथा का नाश सामाजिक क्रान्ति का विषय कभी नहीं बन सकता। यह बात आज मैं इसलिए नहीं स्वीकार कर रहा हूँ कि अकेले काम करते-करते मैं हार गया हूँ। बल्कि

यह एक अनुभूत सत्य है। अनामिका मिले, तो यह बात मैं उससे साफ तौर से कह दूँगा।

नहीं-नहीं, मैं यह बात मरते दम तक स्वीकार न करूँगा। मैं उससे कभी यह न कहूँगा कि मैं थक गया हूँ, या इस सम्बन्ध में मैंने हार स्वीकार कर ली है। यह बात दूसरी है कि अनामिका मुझे विवश कर दे, तो मैं इनकार न करूँ।

पर ऐसा सम्भव कहाँ है! दृढ़ता में वह मुझसे कहीं आगे है।

लेकिन यदि उसने कोई दूसरा पथ स्वीकार कर लिया तो—।

इस बात को सोचते ही उमानाथ कुछ ऐसा अनुभव करने लगा, जैसे उसका हृदय बैठा जा रहा है, डूबता जा रहा है।

इतने में खटर-झड़ड़-चींडड-फिश्स्स।

गाड़ी सम्हाली तो खूब लेकिन...! और अनामिका गाड़ी से उतर कर देखने लगी कि सामने की बछिया को चोट कितनी लगी। इधर-उधर के लोग दौड़ पड़े।

होली के दिनों में जैसे पिचकारियाँ चलती हैं—वैसे ही दुर्घटना के अवसर पर वाक्यों का 'विरायटी शो' होता है।

बिना कुछ देखे समझे ही बोल पड़े, जो ठंढाई छानने के बाद अब पान की गिलौड़ी मुँह में खोंस रहे थे।

—इन मोटर वालों की आँखों पर हमेशा चरबी चढ़ी रहती है।

—ओः कोई मिस साहिबा हैं।

—कालेज की लड़की होगी।......तब जाने दो। शहर की सारी रौनक इन्हीं की बदौलत है बाबू। वरना हल्दी मिर्चा लोहा-लंगड़ और लोई-इकलाई के सिवा कुली मजूरों के इस शहर या अन्दर घरों में क्या है।

—आँखों पर पट्टी बाँध कर चलती हैं आप।

—पट्टी नहीं, चश्मा है जनाब। जरा आँखें खोलकर बात किया कीजिये।...कैसे बात करते हैं आप? जरा सभ्यता सीखिये।

—मैंने तो नहीं सीख पायी, अब गऊ हत्या करके आप ही सीख लीजिये।

—राम राम ! देखो तो, बेचारी कुल जमा दस पाँच दिन ही यह दुनियाँ देख पायी थी।

—मानती हूँ। लेकिन आप लोग इन्हें बाड़े के अन्दर बाँधकर क्यों नहीं रखते। मैंने बचाने की हरचन्द कोशिश की, लेकिन आप ही सोचिये किसी की मृत्यु को कोई कैसे रोक सकता है।

—पहिया बिल्कुल पसलियों के ऊपर जा पड़ा। नहीं, इतनी जल्दी...हाय हाय ! अब भी जान बाकी है थोड़ी-सी। बेचारी पैर फड़फड़ा रही है !

—ये आ गये आप। आप ही की बछिया है यह।

—हाँ थी तो यह मेरी ही। मर गई क्या ?

देखते हैं। देखकर उठते ही बोल उठते हैं— अब आपसे क्या कहें साहिब। बछिया मर गई, मेरी तकदीर फूट गई ! क्योंकि अब सवाल ये है कि मेरी गैया दूध कैसे देगी ? सात सै की ठहरी। कोई मामूली नहीं है। इसी क्वार में तो ली थी। बियाने आज बारहवाँ दिन है।

"हाय रे पैसा।"

उमानाथ का ताँगा भीड़ के कारण रुका हुआ था। इसलिए उतर कर वह भी यह दृश्य देख रहा था। अकस्मात् जो बछिया वाले का कथन उसने सुना तो कोई उसके कानों में बोल उठा—हाय रे पैसा।... यानी इसको इस बछिया की इस आकस्मिक मृत्यु का दुःख नहीं है। फिकर केवल इस बात की है कि अब उसकी गैया से दूध और उस दूध से पैसा कैसे दुहा जायगा।

यकायक भीड़ में दृष्टि पड़ गयी अनामिका पर। तब वह घूमकर उसके पीछे से पास आकर चुपचाप जा खड़ा हुआ।

इतने में अनामिका बोल उठी—सारा दृश्य मेरी आँखों के सामने से गुजरा है। क्योंकि मैं पीछे से आ रही थी। मैं आपको विश्वास दिलाती

हूँ कि मिस मालती ने इसको बचाने में कोई कसर बाकी नहीं रक्खी। लेकिन फिर होनहार को कौन रोक सकता है।

इतने में कान्स्टेबिल बोल उठा—अब आप सब लोग जाइये। और आप बोलिए, अभी इसको यहाँ से उठा कर आप खुद ले जाना चाहते हैं, या मैं कोई इन्तजाम करूँ।

इतने में अनामिका जो अपनी गाड़ी की ओर जाने के लिये घूम पड़ी, तो उमानाथ को पास खड़ा देख चौंक उठी। बोली "अरे! आप यहाँ कहाँ?"

और उसी क्षण मिस मालती अनामिका के कन्धे पर हाथ रखकर बोली—Thank you dear. लेकिन आज इतने दिनों बाद तुम यहाँ इस मजमे में टपक कैसे पड़ीं।...और फिलासफर साहब आप तो जैसे गूलर के फूल हो गये।

उमानाथ हँसता-हँसता बोला—"इसका कारण भी इन्हीं से पूछ लो।"

और अनामिका ने उमानाथ का हाथ अपने हाथ में लेकर अपनी गाड़ी की ओर बढ़ते-बढ़ते मालती से कह दिया—"घर पर आकर गुटर गूँ कर जा किसी दिन मेरी कबूतरी, यहाँ अब तुझसे क्या बात करूँ।"

ताँगे वाले का पैसा चुकाकर जब उमानाथ अनामिका के बगल में बैठा—तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह स्वप्न देख रहा है। लेकिन उसी क्षण उसे चारों ओर से भयंकर आँधियों ने घेर लिया।

क्यों वह इस तरह का जीवन बिताये कि स्नेह की शीतल रश्मियाँ (छोटे-छोटे बच्चे, शिशु, बालक बालिकाएँ, नाती, पोते) से वह वंचित ही बना रहे! और क्यों वह विश्व के लिए झल्ली भर उलहनों से भरी विकृतियाँ, कटुता और विष से बुझी आपत्तियाँ, मक्खियाँ भिनभिनाने योग्य वीभत्स मानसिक दुर्गन्ध का क्रन्दन छोड़ जाय।

और इस तरह जिद्द को जो व्यक्ति सदा विजय मानते रहे हैं क्या उनका मुँह इस काबिल है कि वे विश्व के समक्ष मस्तक ऊँचा करके

एक बार सगर्व, सहर्ष और सोत्साह खड़े भी हो सकें। और तभी उसने एक बार दिल थाम कर कह दिया—"सबसे पहले हमको सराफा चौक चलना है।"

"मेरे लिए कोई चीज बनवा रहे हो क्या?" अनामिका ने मूलगंज के चौराहे से चौक की तरफ गाड़ी घूमाते हुए पूछा।

अपने मन प्राण को थहाते-थहाते उमानाथ बोला—"सचमुच इस बार तुम्हारा यह मजाक पूरा कर देना है। मुझे अपने पहले उपन्यास की रायल्टी में सात सौ रुपये एडवांस मिले थे। उसी की एक चीज बन रही है। देखो, शायद पसन्द आ जाय।

आश्चर्य का समुद्र आज एक भंगिमा में आ गया है।

अनामिका ने एक बार घूम कर उमानाथ की ओर देखा व उसकी पुतलियाँ ऊपर की ओर से तिरछी घूम गयीं। फिर सामने देखती-देखती आह्लाद के प्रकार में मन्द-मन्द हास झुलकाती कहने लगी—"कल से माँ तुमको बहुत याद कर रही हैं। और मैं भी अभी तुम्हारी खोज में घनश्याम जी के यहाँ से ही आ रही हूँ।"

× × ×

———

कुलटा

कई दिनों से नौकर नहीं है। चार दिन की छुट्टी लेकर गया था और आज चौदह दिन हो गये हैं। नया आदमी रखकर नई परेशानियाँ मोल लेने की अपेक्षा, पुराने साथी की प्रतीक्षा में कुछ दिन तक हाथ-पैरों की बिगड़ी आदत सुधार लेना कहीं अच्छा है।

इसलिए कई दिनों से सबेरे शाक-भाजी लेने स्वयं मुझे ही जाना पड़ता है। इस नये कार्यक्रम में कुछ नये अनुभव भी हो रहे हैं। आज भी एक ऐसी घटना हो गई जिसकी याद किसी तरह भूल नहीं रही है।

शाकवाला जाति का कलवार है। उमर चालिस नहीं, तो छत्तीस से कम भी नहीं है। बात करने में कभी कमजोरी नहीं दिखलाता, यह मैंने प्राय: लक्ष किया है। मुहल्ले के दो-तीन हजार आदमियों से उसका परिचय है। पहले दिन जब मैं शाक-भाजी लेकर चलने लगा, तो उसने चार-छै हरी मिरचें और चार-छै पौदे हरी धनियाँ के अपने मन से, मेरे झोले में रख दिये। तब यह समझते देर न लगी कि यह शाकवाला है व्यवहार-कुशल।

बात चल रही थी दूध पर। क्योंकि यह शाकवाला गाय का दूध भी बेचता है। और आज प्रात:काल, जरा देर से उठने के लिए, मै उसके यहाँ पहुँच नहीं पाया था और फिर आवश्यकता पड़ने पर पास की दूकान से ले आया था।

हाँ, तो वह शाकवाला करेले तौलता हुआ कह रहा था—"आज दूध लेने के लिए नहीं आये ?"

मैंने कहा—आज मैं जरा देर से उठा था।

वह बोला—और मैंने आप के लिए रक्खे हुए दूध को देर तक कई ग्राहकों को भी नहीं दिया।

मुझे कहना पड़ा—तो अब दे दो अगर रक्खा हो।

उसने कह दिया—अब तक भला रक्खा रह सकता है।

तब मैंने कहा—अच्छा अब से रक्खा ही रहने दिया करो, मैं चाहे देर से भी आऊँ।

इतने में कई और ग्राहक आ गये। मैंने यद्यपि देखा नहीं कि कौन है। और तभी शाकवाला मेरे लिए लौकी देता हुआ बोला—"सामने (गैया) दुह देने की बात और होती है। पीछे की बात ही और है। मैं चाहे जितनी ईमानदारी बरतूँ, पर आज नहीं तो कल्ह, आप ही कहने लगेंगे कि पानी जरूर मिलाया गया है। बतलाइये, तब मेरी क्या इज्जत रह जायगी।"

"लेकिन मुझे तुम्हारी ईमानदारी पर विश्वास है। में ऐसा कभी नहीं कहूँगा।" मैंने स्वभावतः साधारण रूप से कह दिया।

पर शाकवाला अपनी बात पर डटा रहा। बोला—"नहीं बाबू जी, यहाँ आप भूल कर रहे हैं। विश्वास जमा लेने पर मेरी भी नियत डोल सकती है। रोजी रोजगार में पड़कर आदमी क्या नहीं करता।"

इतने में एक स्त्री जिसको दो सेर बड़ी जाति के आलू उस शाक-वाले ने तौले थे, बोल उठी—"यह पुराना ठग है बाबू जी। एक नम्बर का लफंगा, बेईमान···।"

अब उस स्त्री की ओर स्वभावतः मेरा ध्यान आकृष्ट हो गया।

शरीर से स्थूल, वय से चालीस के लगभग। रूप ? ऊँ हुँ। मुझे तो कहीं झलक मिली नहीं। आँखें अलबत्ता अपेक्षाकृत बड़ी हैं। धोती साधारण—न मैली न उजली। बाहों पर चाँदी की टाड़ें और पैरों में मोटे-मोटे कड़े। चूड़ियाँ हरी-नीली काँच की। रंग गेहुँआ। एक बार

सोचा—"शायद इसका कुछ परिचय इससे रहा है।" तभी शाकवाला बोल उठा—"झूठ बोलेगी तो राँड़ होते देर न लगेगी।" उत्तर में स्त्री जरा भी नहीं झिझकी, लज्जा की एक रेखा, उसका एक कण भी उसके मुखपर नहीं आ सका और उसने तत्काल कह दिया—"राम राम। ऐसा न कहो। क्योंकि चाहे जो हो, यह मैं नहीं चाहती कि मरना दूर—कभी तुम्हारा सिर भी दर्द करे।"

सुनकर शाकवाला पहले हँसा, फिर गम्भीर हो गया।

उसका हृदय

दो मित्र आपस में वार्तालाप करते हुए सड़क पर जा रहे थे। एक का नाम था त्रिलोचन। वर्ण श्याम, दुर्बल शरीर, मुख पर दस-पाँच शीतला के चिह्न, कमीज के कालर खूब टाइट और ढीला सफेद पायजामा, बायें हाथ में घड़ी, जेब में दो फाउन्टेन-पेन। बातचीत में अधिक भाग उसी का देख पड़ता था।

दूसरे का नाम था गणेश। त्रिलोचन की अपेक्षा कुछ उजला वर्ण, शरीर से भी अधिक समर्थ। गाढ़े का पायजामा, कुरता और उसके ऊपर रेशमी जाकेट। धूप तेज नहीं थी, तो भी धूप का चश्मा अपनी आँखों पर चढ़ाये था। उसकी रिस्टवाच बहुत छोटी, सुनहली और कीमती थी। बातचीत के बीच में जब वह कभी बोलता तो इतना खुल जाता और इतने अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करता कि उसके साथी त्रिलोचन को कभी-कभी अपने इधर-उधर देखना पड़ता इस विचार से कि कहीं किसी रास्ता चलते सम्भ्रान्त व्यक्ति ने सुन तो नहीं लिया?

त्रिलोचन कह रहा था—"भई, मैं तो सीधी बात जानता हूँ। कोई भी व्यक्ति जो कर्ज देता है, चाहे वह महाजन हो अथवा एक सभ्य नागरिक मित्र, यह सोचकर देता है कि अगर यह रुपया वापस नहीं भी मिलेगा, तो मेरा काम नहीं रुकेगा। अर्थात् अन्तिम स्थिति में वह छोड़ा भी जा सकता है। यह मानी हुई बात है कि कर्ज देने वाला व्यक्ति सदा उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सम्पन्न होता है, जो कर्ज लेता है इसीलिये कर्ज लेने वाला व्यक्ति अधिकारी है कि यदि उसकी परिस्थिति कर्ज अदा करने की नहीं है, तो वह चाहे तो उसे न भी अदा करे। तुम्हारी आय मेरी अपेक्षा अधिक है। खर्च करने के लिये तुमको रुपये की कमी नहीं रहती। ऐसी दशा में यदि मैं तुमको रुपये वापस न करूँ, तो तुम्हें इसके लिये मुझे क्षमा कर देना चाहिये।"

गणेश को क्रोध आ गया। वह कहने लगा—"यह तुम्हारी हराम-खोरी है। समझे? तुम जैसे बदमाशों को तो कुत्तों······।"

बात काटते हुए त्रिलोचन बोल उठा—"बको मत, बको मत, लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे।"

इतने में तमोली की दूकान आ गई। त्रिलोचन ने आगे बढ़कर कहा—"बाबू साहब को केले का शरबत पिलाओ और पान खिलाओ। और सुनो—"गोल्ड-फ्लेक" सिगरेट है तुम्हारे पास?"

उसने कहा—"कहाँ बाबू, आजकल तो लड़ाई के मारे······"

"विल्स······?"

"हाँ विल्स तो होगा।"

"एक पैकेट देना।"

वह जेब से पर्स निकालकर उसे खोलने लगा और बोला—"अच्छा, दो ही दे दो।

गणेश ने देख लिया कि पर्स में कई नोट हैं। बोल उठा—"इतने रुपये रखते हुए भी यह नहीं होता कि पाँच ही दे दें। अगर चाहो तो इसी तरह धीरे-धीरे पूरा रुपया अदा होते कितने दिन लगें?"

तमोली शरबत बना रहा था। त्रिलोचन सिगरेट पीकर धुआँ उड़ाता हुआ हँस रहा था और गणेश बराबर बड़बड़ा रहा था। कुछ सोच कर त्रिलोचन बोल उठा—"बड़बड़ाना बेकार है। एक तो मैं कभी ऐसे आदमी से रुपया लेता नहीं जिसको वापस किये बिना बराबर बेचैनी का अनुभव होता रहे। दूसरे अगर मैं यह देखूँ कि उसको वास्तव में रुपये की जरूरत है—तो मैं अपने कपड़े बेचकर भी उसकी जरूरत पूरी कर सकता हूँ।" उसके स्वर में गम्भीरता आ गई थी।

"तुम बकते हो, त्रिलोचन, शब्द तुम्हारे लिए मशीनों के आपस में रगड़ने की सूचना मात्र हैं, उनका कोई अर्थ नहीं। अपने शब्दों का जरा भी मूल्य तुमने आँका होता, तो आज के दिन तुम कुछ और होते। तुम्हारी ऐसी सोचनीय स्थिति न होती। तुम्हारी वाणी में बल होता और

तब रुपया क्या चीज है, संसार का सारा वैभव तुम्हारे संकेतों की प्रतीक्षा करता।"

गणेश भी अपनी बात कहते-कहते कुछ गम्भीर हो गया था। इसी समय शरबत का गिलास उसके सामने आ गया।

"शब्दों का मूल्य," कहते हुए त्रिलोचन उपहास की हँसी से किञ्चित प्रतिरूप हो पड़ा। परन्तु क्षण भर रुक कर फिर कहने लगा—"शब्दों का मूल्य अब मुझे तुमसे सीखना पड़ेगा। मुझे पता है कि तुम अपने चचा जान के साथ सराफे की दूकान पर बैठ कर कितना सच बोलते हो?"

शरबत पीकर, पान मुँह में दबाये, गणेश बोला—"मैं तुम्हारे भले के लिये कह रहा था। मेरा मतलब तुमको किसी प्रकार की चोट पहुँचाना तो हो नहीं सकता। रुपये वास्तव में मैंने यह सोचकर दिये भी नहीं थे कि तुमसे वापस मिलेंगे ही। यह तो मैं पहले ही जानता था। खैर, मारो गोली इस मनहूस विषय को। अब यह बतलाओ कि दुर्गा का क्या हुआ?"

दुर्गा एक नवयुवती है और गणेश के इस प्रश्न के पीछे उसका एक इतिहास छिपा हुआ है। त्रिलोचन आज-कल घर में अकेला पड़ गया है। उसके परिवार में उसकी पत्नी दमयन्ती और माँ है। वे गाँव में हैं। अकेले रहकर खाना पकाने में जब उसे अधिक कष्ट होने लगा और उसके दैनिक कार्य-क्रम में व्याघात उपस्थित होता जान पड़ा तो एक दिन उसके मन में आया, क्यों न एक महाराज रख लिया जाय। अपने मित्रों में उसने इसकी चर्चा की। अन्त में महाराज तो उसे नहीं मिला, मिल गई एक बुढ़िया महराजिन। और त्रिलोचन का काम चलने लगा।

एक दिन बुढ़िया अपने साथ एक लड़की को भी ले आई। वह देखने में सुन्दर, वय में गदराये आम-सी और वेश-भूषा में अपेक्षाकृत कुछ पढ़ी-लिखी और सभ्य प्रतीत होती थी। देखते ही त्रिलोचन ने पूछा "यह कौन है तेरे साथ?"

महराजिन बोली—"यह मेरी नतिनी है। घर दिखला दिया और आपसे भेंट करा दी। अगर कभी जरूरत पड़ी तो आपका काम तो न रुकेगा। दुर्गा नाम है इसका।"

सुनकर त्रिलोचन मौन रह गया और फिर हाँ-न उसने कुछ नहीं कहा।

दोनों बातचीत करते हुए आगे बढ़ रहे थे। गणेश ने ज्यों ही दुर्गा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, त्यों ही त्रिलोचन कुछ अस्तव्यस्त हो उठा। फिर उसके मुँह से एकाएक निकला—"वह काम छोड़कर चली गई।"

गणेश ने लक्ष्य किया। त्रिलोचन के स्वर में यद्यपि जड़ता है, किन्तु उसे जान पड़ा जैसे उसमें दर्द भरा हुआ है और उसकी वाणी में नयन और कण्ठ मिलकर उतर रहे हैं। उसने पूछा—"आखिर क्यों?"

"कुछ नहीं, कोई खास कारण नहीं। एक दिन जैसे वह आ गई थी, वैसे ही एक दिन चली भी गई। पहली बार जैसे बिना बुलाये संयोग से आ गई थी, अन्त में वैसे ही जाती हुई एक संयोग का निर्माण भी कर गई।"

गणेश की उत्सुकता और बढ़ गई। कुछ क्षण दोनों चुपचाप चलते रहे। सड़क पर सैनिकों से भरी लारियाँ जा रही थीं। दाईं ओर धूल के बवण्डर उठ रहे थे। बाईं ओर एक पुलिया पड़ती थी। उसकी ओर लक्ष्य कर त्रिलोचन बोला—"दो मिनट यहाँ ठहर जाओ। इन लारियों को निकल जाने दो।"

दोनों उस पुलिया पर बैठ गये। त्रिलोचन बोला—"बुढ़िया के मर जाने के बाद वह नित्य प्रति आने लगी थी। मैं उससे कभी बोलता नहीं था। उसके मुख की ओर देखने की चेष्टा भी प्रायः कम ही करता था। अगर कभी उसने कोई प्रश्न कर दिया, तो भले ही उत्तर दे दिया। लेकिन यह दशा भला कब तक रह सकती थी? तुम्हें पता होगा, आज कल मैं पान नहीं खाता हूँ। अगर किसी ने दे दिया, तो सम्भव है खा भी लूँ; पर इच्छापूर्वक मैं कभी पान नहीं खाता। पर खाना खाने के बाद

वह विधिवत् तश्तरी में पान दे जाया करती थी। एक दिन पान देकर जब वह जाने लगी, तो चलते समय उसने पूछा—"आप मुझसे कुछ नाराज रहते हैं?"

आरोप के साथ ही मैंने उसकी ओर देखा, तो उसकी दृष्टि स्थिर न रह सकी। वह नतमुखी हो गई। तब मैंने कहा—"मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझा।" वह बोली—"आप क्या नहीं समझते, यह मैं नहीं जानती।" बस, इतना कहकर वह जाने लगी। मैंने टोंकते हुए कहा—"सुनो दुर्गा, एक बात सुने जाओ।" वह बिना मुस्कराये बोल उठी—"मुझे देर हो रही है। जल्दी कहिये।" मैंने कहा—"तुमने कैसे समझा, मैं तुमसे नाराज रहता हूँ?"

मेरे प्रश्न पर वह चुप रह गई। अन्त में बड़े अनुरोध के अनन्तर उसने बतलाया—"आप अक्सर बहू जी को ले आने की बात कहा करते हैं। क्या मेरा बनाया खाना आपको अच्छा नहीं लगता?"

यह सुनकर मेरा हृदय मचल जरूर उठा था, लेकिन मेरे विवेक का पञ्जा उसके निकट जा पहुँचा।

मैंने कहा—"तो तुम सोचती हो दुर्गा कि स्त्री केवल खाना पकाकर खिलाने वाली एक मशीन मात्र है?"

दुर्गा की आँखें भर आईं। वह बोली—"कैसे कहूँ कि आपने मुझे समझने में गलती की पर बाबू, मेरा मतलब यह है कि जब बहू जी आ जायँगी तब तो आप मुझे इस नौकरी पर रखेंगे नहीं। तब मेरी गुजर कैसे होगी? दादी आपसे पहचान करा गई थीं, इसीलिये मैं आपकी सेवा करने आ गई थी। किसी दूसरे बाबू के यहाँ तो मैं जा नहीं सकती।"

उसके इस उत्तर को सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"क्यों, किसी दूसरे बाबू के यहाँ खाना पकाने के लिए जाने में तुमको आपत्ति क्या हो सकती है?"

उसने कहा --"मैं आपसे बहस तो कर नहीं सकती। इतना जानती हूँ कि सब आदमी एक-से नहीं होते।"

मैं चुप रह गया। वह आँसू पोंछती हुई जाने लगी। तब मैंने भी कह दिया—"तुम चिन्ता न करो दुर्गा, बहू जी के आ जाने पर भी मैं तुमको जवाब नहीं दूँगा।"

कुछ दिन इसी तरह चले। मैं अब दो-एक बातें उससे करने लगा। कभी उसके बनाये साग की प्रशंसा भी कर देता। कभी कहता—"तुम्हारी स्वच्छता पर मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ।" वह उत्तर में कुछ न कहकर मुस्करा देती।

एक दिन की बात है। उस दिन पानी बरस रहा था और भूमि की गर्मी जैसे पहली बार शान्त हो रही थी। वायु में मिट्टी का सोंधापन मिश्रित होकर अभिनव कल्पनाओं की सृष्टि करने लगता था। सिनेमा देखकर मैं ज्यों ही घर लौटा, देखता क्या हूँ कि दुर्गा मेरे दरवाजे पर बैठी है। मैंने पूछा—"इस समय कैसे आई, दुर्गा?"

वह बोली—"मकान मालिक ने सामान बाहर फेंक दिया। कई महीने का किराया चढ़ गया था। आजकल मँहगाई के कारण खाना तक तो चलता नहीं, ऊपरी खर्चे कैसे चलें। तिस पर मैं एक स्कूल में पढ़ने भी जाती हूँ।" वह फफक-फफक कर रो पड़ी। फिर बोली—"इतनी रात को अब मैं कहाँ जाऊँ।"

मुझे ऐसी दशा में कहना ही पड़ा—"खैर कोई बात नहीं। एक-आध दिन में कुछ-न-कुछ खाने का प्रबन्ध हो ही जायगा।"

इस प्रकार उस रात को वह मेरे ही घर पर रह गई।

गणेश से नहीं रहा गया। वह पूछ ही बैठा—"लेकिन वह रात तुमने बिताई कैसे? क्या तुमको नींद आई थी?"

त्रिलोचन ने बतलाया—"बारह बजे तक तो मैं ग्रामोफोन बजाता रहा। दुर्गा फर्श पर चुपचाप बैठी सुनती रही। साढ़े ग्यारह बजे जब एक बार उसने कहा—"अब सो जाइये। नहीं तो सबेरे आँखें कड़ुवा-

येंगी।" तो मैंने उत्तर दिया—"मेरी आँखें ऐसी कमजोर नहीं हैं, दुर्गा।"

मेरा उत्तर सुनकर वह चुप रह गई। लेकिन कुछ सोचकर क्षण भर बाद उसने कहा—"आप से तो बात करना मुश्किल है!"

बारह बजे ग्रामोफोन बन्द कर लेटे-लेटे मैं कुछ पढ़ने लगा। कितनी देर तक मैं पढ़ता रहा, कितनी बार उठकर पलँग पर बैठ गया, कितने सिगरेट मैंने सुलगाये और कब-कब मैं कमरे में टहलता रहा, यह सब जैसे दूसरे कमरे में लेटी हुई वह बराबर ताड़ती रही। दो बजने पर वह एक बार फिर मेरे सामने आ उपस्थित हुई। उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"तुम सोई नहीं, दुर्गा?"

वह बोली—"हाँ, नहीं सोई"। फिर थोड़ी देर रुक कर आप ही बोली—"मेरे लिए तो, खैर एक कारण यह भी है कि यह नई जगह है, लेकिन आपको तो सोना चाहिये था। आपको नींद क्यों नहीं आती?"

यह दुर्गा का मेरे ऊपर एक आरोप था। वह चाहती थी कि मैं भी क्यों न यह स्वीकार कर लूँ कि दुर्गा मेरे लिए नई चीज है। इसीलिये मुझे नींद नहीं आती।

मैं सोचने लगा—"सचमुच मेरा न सोना क्या मेरी दुर्बलता प्रकट नहीं करता?" मैंने उत्तर दिया—"सोना तो नित्य है, दुर्गा।"

मैं सोचने लगा, मेरे इस उत्तर को पाकर उसको अवसर मिला है कि वह स्पष्टतया कह दे—क्या तुम्हारे लिए दुर्गा अनित्य है? किन्तु उसने फिर कोई उत्तर नहीं दिया। देर तक वह मेरे खुले कमरे के द्वार की चौखट पकड़े खड़ी रही और देर तक मैं उसकी कमनीय रूप-राशि को एकटक देखता रहा। अन्त में मैंने ही प्रकाश बुझाते हुए कहा—"अब तुम सोओ दुर्गा मैं भी सोता हूँ।" वह लौट पड़ी। किन्तु लौटते क्षण मैंने अनुभव किया, जैसे युग-युग तक की संचित साँस एक साथ निःसृत हो रही हो। कमरे में बिल्कुल अँधेरा था। एकादशी का चन्द्रमा अस्त हो गया था। झिल्ली के सिवा कहीं से भी कोई शब्द नहीं सुनाई

पड़ता था। महीनों जिस मकान में अकेला रहा हूँ, वही मकान उस रात को मेरे लिए मानो एक पहेली बन गया था। कभी उसकी चूड़ियाँ खनक उठतीं, कभी ऐसा प्रतीत होता, मानो कोई निःश्वास ले रहा है। किन्तु थोड़ी देर के बाद मेरी स्थिति में परिवर्तन हुआ। मेरी आँखें झपक गईं। मुझे नींद आने लगी। सब कुछ मेरे लिए शून्य हो गया। पर यह सब कितनी जल्दी हो गया, इसकी चेतना भी धुँधली हो गई। केवल एक अनुभूति कभी-कभी मेरे मन में उदित हो उठती। वह यह कि मेरा संसार कितना मधुर है। इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु कितनी सुन्दर है और मेरे चारों ओर कितनी सुवास फैली हुई है! अन्त में यह मिठास भी एक विचित्र प्रकार की कोमलता में परिणत होने लगी। मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे रेशम के-से कुछ मुलायम लच्छे मेरे केशों का पर्श कर रहे हैं और उनके साथ भीनी-भीनी सुगन्ध के झकोरे मुझे छू-छू जाते हैं। फिर जान पड़ा, किसी की कोमल अँगुलियाँ मेरे सिर के केश के गुच्छे के बीच आ-आकर उसे सुहला रही हैं। कभी-कभी कानों के पर्दों पर मैं स्पष्ट रूप से किसी की साँस का अनुभव करता हूँ। किन्तु अपनी इस विचित्र स्थिति के मोह को मैं अधिक काल तक उस उपचेतना में भी संवरण न कर सका। एकाएक मेरी आँख खुल गई। मैं उठकर बैठ गया। बैठे अभी एक सेकण्ड ही मुश्किल से बीता होगा कि मैंने देखा, एक छाया मेरे सामने से एक ओर हट गई। सन्देह-निवारण के लिए मेरे मुँह से एकाएक निकल गया—"दुर्गा?"

छाया स्पष्ट होकर बोल उठी—"हाँ मैं ही हूँ, बाबू।"

मैंने पूछा—"यहाँ कैसे आई?"

वह बोली—"कुछ नहीं, आप यों ही शायद स्वप्न में कुछ बड़बड़ा रहे थे, उसी को सुनने आ गई थी। किन्तु आपको इससे क्या, आप सो जाइये।" वह फिर दूसरे कमरे में चली गई। किन्तु वहाँ पहुँचते ही धम्म से चारपाई पर गिर पड़ी और रो-रोकर सिसकियाँ भरने लगी।"

पहले तो मुझे अपने अनुभव पर सन्देह हुआ, परन्तु अपना भ्रम

दूर करने के लिए जब मैं उस कमरे में जा पहुँचा, जिसमें उसके सोने का मैंने प्रबन्ध किया था, तो मैंने प्रत्यक्ष देखा कि मेरा अनुभव काल्पनिक न होकर सत्य था। मैंने पूछा—"आखिर इस अभिनय का क्या मतलब है, दुर्गा?"

मेरी गम्भीर वाणी को सुनकर वह काँप उठी और इसका अनुभव मुझे तब हुआ, जब उसके कण्ठ के स्वर में भी वह कम्पन स्पष्ट झलक पड़ा।

आँसू पोछकर बड़ी कठिनाई से अपने को प्रकृत स्थिति में लाकर उसने कहा—"मुझे आप क्षमा कर दीजिये। मैं कल ही दूसरी जगह चली जाऊँगी। मैं यह नहीं सहन कर सकती कि मेरे कारण आप रात में सो भी न सकें, आपको सोते से उठ-उठकर जागना पड़े। मैं···मैं···!"

और कहते-कहते वह फिर सिसकने लगी।

अब मेरा स्वप्न भङ्ग हो गया। मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि जिस प्रकार की मानसिक अस्वस्थता का आरोप मैं दुर्गा पर करने जा रहा था, उसका अपराधी स्वत: मैं भी कम नहीं था।

इसके बाद मैं चुपचाप आकर अपने पलंग पर लेट रहा। थोड़ी देर में सबेरा हो गया और ज्यों ही मैं चारपाई से उठा, त्यों ही मैंने सुना, सदर दरवाजे को बन्द करते हुए उसने कहा—"मैं जाती हूँ। अपना घर देखियेगा।"

इतना कहकर त्रिलोचन चुप हो गया, जैसे उसे और कुछ कहना ही न हो। पर गणेश के हृदय में उथल-पुथल-सी मची हुई थी और वह दुर्गा के सम्बन्ध में कुछ और जानना चाहता था। थोड़ी दूर तक चुपचाप चलने के बाद उसने पूछा—"फिर क्या हुआ?",

"कुछ नहीं" त्रिलोचन ने कहा—"अब वह मेरे साथ नही रहती।"

बस, इससे अधिक त्रिलोचन ने कुछ नहीं बताया। गणेश के प्रश्नों को इधर-उधर करके उसने टाल दिया। ऐसा प्रतीत होता था मानों दुर्गा के सम्बन्ध में वह और कुछ नहीं बताना चाहता।

कुछ दिन बाद त्रिलोचन और गणेश इसी सड़क पर फिर टहलने के लिये निकले। एकाएक एक गाड़ी धीरे-धीरे सामने से आती देख पड़ी। उसमें कुछ तरुण महिलाएँ बैठी हुई थीं। गाड़ी एक विद्यालय की थी। जब वह सामने आई तो उसमें बैठी युवतियों में से एक, इन दोनो आदमियों को देखकर, दूसरे से कानाफूसी करने लगीं। "यही हैं त्रिलोचन बाबू," शब्द स्पष्ट रूप से गणेश ने सुन लिये। साथ ही उसने उस युवती की ओर ध्यान से देखा भी।

गाड़ी जब आगे निकल गई तो गणेश ने पूछा—"तुमने कुछ लक्ष्य किया?"

अन्यमनस्क बनकर त्रिलोचन बोला—"यह तो कानों का धर्म ही ठहरा। खैर, तुम अपना मतलब बतलाओ।"

"यह लड़की तुमको पहचानती है?"

"अच्छा मान लो पहचानती ही हो तो?"

"कौन है यह?"

"इससे तुम्हें बहस?" उत्तर देते हुए त्रिलोचन का स्निग्ध हास और मृदुल कण्ठ कुछ स्पष्ठ झलक उठा।

अन्त में उस दिन जब गणेश त्रिलोचन से बिदा लेने लगा तो उसने कहा—"मैंने तुमको समझने में जो गलती की, उसके लिये मुझे क्षमा करो और जब कभी रुपये की जरूरत हो, बराबर माँग लिया करो। अब तक मैं तुमको विवश होकर रुपया देता था, अब अपना गौरव समझ कर दिया करूँगा।"

— —

बधाई

"आप शायद सो गये थे। आपको मैंने ऐसे समय आकर कष्ट दिया, इसका मुझे खेद है। किन्तु मैं—मैं करता क्या! मेरे सामने एक ही प्रश्न था, कैसे मैं आप से मिलूँ—कैसे आपको अपना अन्तःकरण खोलकर दिखलाऊँ! आप विश्वास न करेंगे। सारी बातें एक विराट रहस्य से आवृत रहती हैं। किसी का कोई दोष नहीं है। अधिक क्या कहूँ? मैं दुःख के साथ आपको बधाई देने ही आया हूँ। मैं अब जा रहा हूँ। आप से आज्ञा चाहता हूँ। अब आप सोइये। मैं यह चला। नमस्कार।"

बस, इतनी बात कहकर रघुनाथ चला गया।

कुछ वर्ष पहले रघुनाथ यहाँ इस नगर में किसी काम-काज की तलाश में आया था। गिरधारी के यहाँ वह प्रायः देख पड़ता था। उसकी आँखें सदा कुछ न कुछ अध्ययन करती हुई प्रतीत होती थीं। यद्यपि वर्ण और वेश-भूषा उसकी काफी उजली थी तो भी उसके मुख पर किसी प्रकार का उल्लास देख नहीं पड़ता था। गिरधारी के घर वह जब कभी देख पड़ता, यद्यपि मुझसे कुछ कहता न था, तथापि सदा उसको देखकर मुझ पर यही प्रभाव पड़ता था कि वह कुछ कह रहा है। उस समय मेरी इच्छा हो आती थी कि मैं उससे कुछ पूछूँ; किन्तु उसकी शान्त छाया से मैं कुछ ऐसा घिर जाता था कि किसी प्रकार की बात उठाने के साहस का मुझ में तिरोधान-सा हो उठता था।

जब रघुनाथ को कहीं कोई काम नहीं मिला, तो वह गिरधारी के यहाँ चुटपुट काम करने लगा। कभी वह साइकिल पर सवार होकर किसी के पास कोई संवाद लेकर जाता, कभी डाकखाने से पोस्टकार्ड और लिफाफे लाता और गिरधारी की जो निजी डाक तैयार मिलती,

उसे डाकबम्बे में छोड़ आता। वास्तव में यह काम एक चपरासी का-सा था। किन्तु रघुनाथ को ऐसे काम करते हुए भी कोई आपत्ति नहीं होती थी।

यह सब कुछ था, किन्तु रघुनाथ कभी, अपनी ओर से, किसी से कुछ कहता न था। गिरधारी भी उससे कुछ काम तो ले ही लेता था; तथापि उसे भी अभी तक उससे यह शिकायत बनी ही हुई थी कि वह अनपेक्षित रूप से गम्भीर है। कई बार उसने मुझसे कहा था—यह व्यक्ति बड़ा सच्चा, ईमानदार और परिश्रमी है। मुझे भय है कि एक न एक दिन, यहाँ से चल जरूर देगा। पर उसकी इस बात पर मुझे उतना दुःख न होता, जितना यह जानकर कि वह पागल हो गया है।

गिरधारी की यह बात सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ था। मेरे मन में आया था कि उस समय, मैं उससे स्पष्ट रूप से यह कह दूँ कि ऐसी दशा में उसे अपने यहाँ आश्रय देना उचित नहीं। व्यर्थ में एक उलझन क्यों मोल ली जाय? किन्तु गिरधारी से इस तरह की बात कहने का उत्साह मैंने अपने में नहीं देखा। सम्भव है, इसका कारण यही रहा हो कि उन दिनों मैं रघुनाथ से कुछ सहानुभूति रखने लगा था।

गिरधारी मेरा मित्र है। मित्र से भी बढ़कर वह मेरे लिए श्रद्धा की वस्तु है। मैं उसका आदर करता हूँ। उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो बिना किसी विशेष आवश्यकता के रघुनाथ जैसे व्यक्ति को आश्रय देने के लिए कभी तत्पर न होता। किन्तु वह मनुष्य को पहचानना जानता है। दूसरों के कष्टों के आगे उसे अपनी असुविधाएँ भूल जाती हैं।

एक दिन इंश्योरेंस कम्पनी के अपने आफिस से लौटते हुए गिरधारी ने प्रसन्नतापूर्वक रघुनाथ को बुलाकर कहा—"आज मैं तुमको एक खुशखबरी सुनाना चाहता हूँ।" तो भी रघुनाथ ने लपक कर यह नहीं कहा कि "सुनाइये। जल्दी कीजिये।"

वरन् इसके विपरीत, वह अपनी अँगुली का नख देखने लगा।

उत्साह से गिरधारी ने फिर कहा—"तुम्हारी नौकरी तय हो गई है। काम बहुत साधारण है। केवल डिस्पैचिंग करना होगा।"

गिरधारी ने देखा, रघुनाथ फिर भी मौन है, पर अब की बार उसका मौन गिरधारी को खल गया। वह बोला—"आपको मेरी बात नहीं सुननी है, सुनकर उसको स्वीकार नहीं करना है, स्वीकार करके फिर उस पर अमल नहीं करना है, तो आपका यहाँ कोई काम नहीं है। आप खुशी-खुशी जा सकते हैं।"

जवाब तो तब भी रघुनाथ ने मुँह खोलकर नहीं दिया; किन्तु उसके पलक ऊपर को उठ गये। एक बार उसने गिरधारी की आँखों से आँखें मिलाकर उन्हें देखा भी, किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी आँखें चमकने लगीं। उनमें आँसू भर आये। गिरधारी उसके भीगे पलकों को सहन न कर सका। वह बोला—"आप जीविका ही तो चाहते थे। मैं इसी चेष्टा में लगा था। ईश्वर-कृपा से आपकी नौकरी ठीक हो गयी और अब आपको मुझ पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता न होगी। अपने जीवन में आप अब एक अभिनव सुख-शान्ति की हरियाली लहलहाती हुई पायेंगे।"

रघुनाथ ने गिरधारी के शब्दों को दोहराते हुए कहा—"जीवन में सुख-शान्ति की हरियाली···!"

उत्तर देते हुए उसके ओठ कम्पित हो रहे थे। विषाद की म्लान छाया से उसकी मुद्रा नितान्त अभिभूत हो उठी थी। उसका वाक्य अधूरा रह गया। भीगे कण्ठ से वह अपनी बात पूरी न कर सका। गिरधारी कमरे में आकर, आफिस के ही वेश में, आराम-कुरसी पर पैर फैलाकर बैठ गया। हथेली पर मस्तक टेक कर देर तक वह यही सोचता रहा—रघुनाथ के लिए अब मैं क्या करूँ? इस तरह से तो यह आफिस में भी कार्य न कर सकेगा। गूँगे क्लर्क के साथ निर्वाह कैसे किया जा सकेगा?

किन्तु गिरधारी को इस सम्बन्ध में फिर कभी चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि दूसरे दिन से रघुनाथ उसके आफिस में काम करने लगा।

(२)

गिरधारी के आफिस में काम करते हुए पूरे छः महीने भी अभी रघुनाथ को नहीं होने पाये थे कि पच्चीस के बजाय अब उसे तीस रुपये मासिक वेतन मिलने लगा था। ब्राञ्च सेक्रेटरी उसके काम से बहुत प्रसन्न थे। चिट्ठियों के ड्राफ्ट बनाने का अभ्यास यदि वह और कर ले, तो उन्होंने वचन दे दिया था कि उसका वेतन चालीस रुपये मासिक कर दिया जायगा। किन्तु रघुनाथ को पत्रों के ड्राफ्ट तैयार करने का कार्य सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ब्राँच-सेक्रेटरी के इस आश्वासन के सदूरे ही दिन से वह इस कार्य को भी सुचारु रूप से करने लगा।

अब रघुनाथ से हम लोगों का मिलना-जुलना कम हो गया था। गिरधारी के घर भी अब उसका आना न होता था। आफिस में भी उसे इतना अवकाश नहीं मिलता था कि वह रघुनाथ के पास जाकर बैठता और उसकी तबियत का हाल-चाल लेता। पद-मर्यादा में उनके सीनियर होने के कारण वह ऐसा कर भी न सकता था। कार्य में संलग्न रहते हुए कभी-कभी रघुनाथ की छाया मात्र उसे देख पड़ती थी। पर उस क्षणिक दर्शन से रघुनाथ की जीवन-धारा का उसे भला क्या पता चलता!

गिरधारी के जीवन में इधर नये-नये परिवर्तन होते जा रहे थे। उनकी अवस्था अब चालीस से ऊपर थी और अब तक उन्होंने सन्तान का मुँह नहीं देखा था। रात-दिन एक चिन्ता, एक अभाव की आग उनके भीतर-ही-भीतर धधक रही थी। किन्तु कभी वह किसी से कुछ कहते न थे। उनकी पत्नी दूसरी थी। जब उनका यह विवाह हुआ था, उस समय वह केवल चौदह वर्ष की थी। किन्तु गिरधारी तीस पार कर चुका था। नवपत्नी को पाकर पहले उसने समझा था—वास्तव में उसका

भाग्य अब खुला है। जीवन में अब उसको और चाहिए क्या ? रुपये-पैसे की कमी नहीं है, मकान अपना है। पत्नी कितनी सुशिक्षित, सुशील और सुन्दरी ! हाँ अवश्य एक कमी है। वह जानता है। पर उसकी ऐसी जल्दी क्या है ? भगवान चाहेगा, तो वह दिन भी...।

जीवन आशा का ही दूसरा स्वरूप है। सरिता की उपत्यका में बैठकर, हरियाली ही हरियाली आँखों में भरकर सुमन-दलों की सुकुमारता का ही अनुभव करते-करते गिरधारी निकट खड़े हुए गगनचुम्बी शाल-वृक्ष की ओर देख रहा था।

वह सोचता था—जिस स्रष्टा ने यह हरियाली दी है, वही वह छाया-तरु भी देगा। देर हो सकती है, किन्तु आशा सदा मरीचिका ही नहीं बनी रह सकती। कभी न कभी तो वह दिन आयेगा ही, जब...।

लेकिन वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये, गिरधारी के जीवन में वह दिन नहीं आया।

पुष्पा खाना परोस कर प्रायः गिरधारी के निकट बैठ उस पर व्यजन डुलाती। प्रारम्भ में, ऐसे अवसरों पर भी, मनोविनोद चलता था। अब वह बात न थी। अब तो गिरधारी ऐसे समय, पुष्पा से बोलते हुए भी, भय कातर-सा रहने लगा था। पलक उठा कर उसकी ओर देखना उसके लिए दुष्कर हो जाता था। बातें होती थीं, किन्तु वे प्रायः गृहस्थी की दैनिक आवश्यकताओं से ही सम्बन्ध रखती थीं। मनोरंजन भी कभी-कभी चल उठता था; किन्तु उसका हेतु होता था केवल उस शून्य वातावरण की नग्नता का तिरोधान करना।

(३)

इसी बीच आ गया यह रघुनाथ।

वह बाहरी बैठक में रहता और काम पूरा होने पर चला जाता। पहले रघुनाथ घर के अन्दर पैर नहीं रखता था। किन्तु दस दिन के बाद ही गिरधारी ने पुष्पा से कह दिया—"यह रघुनाथ तुम्हारे लिए गैर नहीं

हो सकता। यह मेरा छोटा भाई है। रघुनाथ अपनी भाभी के चरण छूकर मेरी इस बात को प्रमाणित करो।"

रघुनाथ उठा। पुष्पा ने एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा। क्षण भर का भी विलम्ब किये बिना वह बोल उठी—अच्छा, अच्छा, खुश रहो। बैठो पैर छूने की जरूरत नहीं है।"

उस समय पुष्पा के मुख पर उल्लास एक बार कम्पित हो उठा था। उसकी वाणी में वेग तो था, किन्तु विदग्धता नहीं थी। विभाव था, किन्तु निरोधहीन, विमुक्त।

अब गिरधारी का अन्तःपुर रघुनाथ की अपनी सीमा थी। पहले वह उसके घर में उसी समय आता था जब गिरधारी उपस्थित रहता था। अब ऐसा कोई बन्धन नहीं था।

कुछ दिनों के बाद गिरधारी के मन में आया—मनुष्य देवता नहीं बन सकता। उसने यह भी सोचा—देवत्व मनुष्यता से परे कोई वस्तु नहीं। पुष्पा पर वह विश्वास करता था। और उससे भी अधिक वह विश्वास करता था रघुनाथ पर। दोनों पर उसका विश्वास अब भी पूर्ववत स्थिर था, किन्तु अविश्वास उसे था, तो अपने आप पर। एक दिन जिस गिरधारी ने पुष्पा से कहा था—रघुनाथ मेरा भाई है। आज उसी को कहना पड़ा—रघुनाथ का मेरी अनुपस्थिति में तुमसे मिलना-जुलना मुझे अब स्वीकार नहीं है!"

उस समय पुष्पा की मुद्रा पर वह ज्योति न थी, जो उच्छिन्न होना नहीं जानती। उद्ध्वस्त मन का उत्पात उस पर खेल रहा था। उसने पूछा था—आज तुम्हारे लिए वह शत्रु है?"

(४)

गिरधारी के जीवन में पहला दिन था, जब उसने पुष्पा के कथन में ऐसी तीव्रता, वाणी में ऐसा प्रतिघात और रूप में इतनी अपरूपता का अनुभव किया था। शान्त रह कर बड़ी देर तक वह विचार करता रहा था। न उसने पुष्पा से कोई बात की थी, न पुष्पा ही उसके निकट

आकर बोली। गिरधारी ने घर से बाहर आकर, मित्रों के साथ, अपना वह छुट्टी का दिन व्यतीत कर दिया, और पुष्पा ने उपवास करके।

किन्तु रघुनाथ को गिरधारी की इस मनःस्थिति का कुछ पता न था। एक निश्चित गति से वह चल रहा था। सरोवर का-सा शान्त जल था वह। वायु के झकोरे उस पर लगते थे, तरंगें भी उठती थीं, किन्तु उनमें वैसा कोई फैला हुआ व्यापक उत्क्षेप नहीं था, उत्पात नहीं था।

रात को ग्यारह बजे आकर गिरधारी चुपचाप लेट रहा था। उसकी आँखों में नींद नहीं थी। कमरे की रोशनी उसने बुझा दी। निकट के नीम के वृक्ष से उत्थित पवन के झकोरों तथा पत्तियों का मर्मर शब्द वातायन से आ रहा था। सुदूर-व्यापी कर्कश श्वान-स्वर भी कभी-कभी उसके कानों में आ पड़ता। अँधेरी रात्रि की सारी कालिमा उस समय उसकी दृष्टि के आगे मूर्तिमान हो उठी। भयानक संकल्प उस समय उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे थे। जब लेटे रहना उसके लिए दुष्कर हो उठता, तो वह झट से उठ बैठता और उसी घने अन्धकार में, कमरे में टहलने लगता। उसने आज भोजन नहीं किया था। मेरे यहाँ केवल चाय पी थी। पान भी दस-पाँच बीड़े खाये थे। पर भूख की रुक्षता, शरीर की शिथिलता और सिर की पीड़ा का उसे भान नहीं था। दाँत पीसने का किटकिट शब्द, गला, भौंहों और मस्तक की नसों का तनाव उसके मन में आये काले-काले संकल्पों के अट्टहास के साथ योग दे रहा था।

गिरधारी ने चाहा कि वह देखे, पुष्पा क्या कर रही है ! सम्भव है वह रघुनाथ के साथ हमबिस्तर हो। एक चमकता हुआ छुरा उसने जेब से निकालकर अपने हाथ में ले लिया। उस क्षण उसका हाथ काँप गया, हृदय धक्-धक् कर उठा। उसने सोचा—वह यह कर क्या रहा है, आखिर उसका इरादा क्या है ! उसे पता चला, जैसे उसने पुकारा हो—पुष्पा ! पुष्पा ! पर वास्तव में उसने पुकारा नहीं था उसे। केवल उसे भान हो रहा था।

अब गिरधारी ने बिजली का बटन दबा दिया। रोशनी कमरे भर में फैल गयी। पहले उसकी दृष्टि गयी घड़ी पर।—"ओह वह बन्द हो गयी है। कई दिन से उसे इसका भी ध्यान नहीं था! खैर यह घड़ी बन्द रहने के ही योग्य है। इसे चलाना व्यर्थ है।"

वह चुपचाप मकान के उस कमरे की ओर जा पहुँचा, जहाँ पुष्पा लेटी हुई थी। वहाँ रोशनी नहीं थी। गिरधारी के मन में आया—यहाँ भी अँधेरा है। लेकिन यहाँ अँधेरा क्यों है? यहाँ तो अँधेरा नहीं होना चाहिए। गिरधारी का अन्धकार यदि पुष्पा के लिए भी काला ही है, तो…?

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"—गिरधारी सोचने लगा। बिजली का बटन दबाकर उसने देखा—पुष्पा सो रही है—सचमुच सो रही है? अब छुरे को उसने खूब मजबूती के साथ पकड़ लिया। "किन्तु…।" उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ।

—"क्या पुष्पा…?"

उसने पुष्पा को और निकट से देखा। छुरा उसके हाथ से छूटकर फर्श पर गिर कर कट् से बोल उठा।

…………

पोस्टमार्टम से पता चला—उसने जहर खाया था और उसके चार महीने का गर्भ था।

दूसरे दिन, ग्यारह बजे रात के समय, अचानक आ पहुँचा रघुनाथ। उसने क्या कहा, वह क्या करता रहा, थोड़ी देर तक—गिरधारी कुछ समझ न सका। उसे केवल इतना याद रह गया—वह उसे बधाई देने आया था।

उस समय गिरधारी को ख्याल आ गया—एक दिन उसने किसी से कहा था। (मुझसे?) रघुनाथ चला जायगा या पागल हो जायगा। उसने सोचा, बस यही बात है—रघुनाथ पागल हो गया है!

———